॥ श्रीदादूदयालवे नमः ॥

श्रीदादूपन्थ-शताब्दी

निबन्धमाला

का

द्वितीय पुष्प

दर्शन और वाणी

लेखक—
सुरजनदास स्वामी व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य
प्रधानाध्यापक श्रीदादूमहाविद्यालय, जयपुर।

संवत् २००१ | प्रकाशक— श्रीदादूपन्थ-शताब्दी-समिति | सन् १९४४

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

दार्शनिक ग्रन्थों के दृष्टान्त

प्रारम्भिक विवेचन

अध्यात्मवाद भारत की एक प्रधान वस्तु है। भारतीयों का झुकाव इसकी तरफ आदि काल से रहा है। उनका यह विचार था कि इस संसार में आत्मतत्व के अतिरिक्त कोई अमूल्य विभूति नहीं है। यदि मनुष्य अपने आप को नहीं पहचानता तो उसका जीवन व्यर्थ है। यह मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह अपने आप को पहचाने। इतर सब उन्नतियां आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर हैं। सब शक्तियों का मूल कारण अध्यात्मतत्व ही है। अतः इस पर उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया और इसकी गवेषणा की तथा इसके द्वारा इतर वैज्ञानिक वस्तुओं को भी उन्होंने पाया जैसा कि वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों के देखने से हमको ज्ञात होता है।

सृष्टि का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसके देखने से यह ज्ञात होता है कि उस समय भारत आत्मवाद की खोज में लग चुका था। खोज में लग ही नहीं चुका था किन्तु एकेश्वरवाद् तथा एकात्मवाद् तक के सिद्धान्त उस समय आविष्कृत हो चुके थे। जैसा कि—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" ऋ० सं० १।१६४।४६ इस श्रुति से स्पष्ट है। इस के बाद इसी आत्मतत्व की विवेचना व प्राप्ति के लिये ऋषियों ने "भिन्नरुचिर्हि लोकः" इस न्याय के अनुसार भिन्न भिन्न

मार्ग बतलाये । उनमें प्रधान ज्ञान, उपासना तथा कर्म ये तीन थे । ये मार्ग वैदिक काल से ही प्रचलित हो चुके थे क्योंकि वेद के तीन भाग इन तीनों की व्याख्या करते हैं । ब्राह्मणभाग प्रधानतया कर्ममार्ग की, आरण्यक भाग उपासना की तथा उपनिषद् भाग ज्ञान मार्ग की व्याख्या करता है । इस समय अध्यात्म-विचाररूप त्रिपथगा के ये तीन धारायें प्रवाहित हो रही थीं ।

बाद में इन्हीं तीन मार्गों के आधार पर आत्मतत्व की विवेचना के लिये षड्दर्शनों की रचना हुई । षड्दर्शनों में प्रधान व श्रेष्ठ वेदान्तदर्शन माना जाता है । इसकी नाना व्याख्यायें हुईं तथा निर्विशेष अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, इस तरह नाना सम्प्रदाय प्रचलित हुए जो आज तक भी भारत में प्रचलित हैं ।

इस तरह भारत में अध्यात्मवाद का काफी प्रचार था किन्तु मध्यकाल में जब कि हिन्दुओं का पतन हुआ और बाहरी शक्तियों ने भारत पर अधिकार किया तब से संस्कृत भाषा मातृभाषा के स्थान से हटी और लोकसाधारण की भाषा न रही ।

संस्कृतभाषा का ह्रास हो जाने से आर्यधर्म तथा आर्य-सभ्यता का भी ह्रास हुआ; क्योंकि यह सब संस्कृतभाषा में ही निबद्ध था । अतः इस समय इस अध्यात्मवाद को पुनरुज्जीवित करने या जीवित रखने का श्रेय मध्यकालिक युग के सन्त महात्माओं को ही है । इन्होंने लोकभाषा में अध्यात्मवाद के तथा दर्शनों के सिद्धान्तों का प्रचार किया । प्रचलित लोक-भाषा में अपने ग्रन्थ लिखे । दर्शनों के जटिल सिद्धान्तों को

लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा सरल शब्दों में संक्षेप से जन के सामने रक्खा। साथ ही निजानुभव से उन सिद्धान्तों को और भी सरल बनाया क्योंकि वे निरे वाचिक दार्शनिक ही न थे किन्तु जिन बातों को उन्हों ने अपने ग्रन्थों में लिखा और जनता के सामने रक्खा उनका वे स्वयं अनुभव भी रखते थे। तथा उन मार्गों पर स्वयं चलते थे। इसीलिये जनता पर उनके चरित्र व व्यक्तित्व की अधिक छाप पड़ी, जिससे उनके सिद्धान्तों का प्रचार बहुत सुगमता से हुआ। उन महात्माओं में कबीर जी, नानक जी, नामदेव जी, दादू जी, आदि के नाम विशेष परिगणनीय हैं। इन महात्माओं के सिद्धान्त तथा उपदेश, उनकी वाणियों में हमें मिलते हैं। इनमें से दादू जी की वाणी को आज हम आपके सामने रखते हैं।

दादूजी की वाणी निर्गुण अद्वैतवाद (निर्विशेषाद्वैतवाद) व निर्गुण भक्ति के सिद्धान्तों से ओतप्रोत है। दादू जी ने अद्वैतवेदान्त को छोड़ कर अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का भी बहुत अच्छा बहुत सुन्दर व सरल ढंग से वर्णन किया है। कबीर जी की तरह दादू जी ने भी जातिभेद, वर्णभेद व अन्य सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन किया है तथा एकता का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है किन्तु उनके तरीके में भेद है। कबीर ने सामाजिक रूढ़ियों के खण्डन में बड़ी स्पष्ट फटकारपूर्ण व अक्खड़ भाषा से काम लिया है, दादू जी ने इसी बात को पूरा करने के लिये सरल, मधुर व विनीत भाषा का प्रयोग किया है। कबीर यदि अक्खड़पन व अभिमान की सजीव मूर्ति हैं तो दादू जी विनय, सरलता व निर-

असमानता के जीवंत रूप हैं। इन सब बातों की सरलता उनकी वाणी को पढ़ने से ही मालूम हो सकता है। इतना होने पर भी दादू जी की वाणी का प्रचार न होने में एक ही कारण दिखाई देता है। और वह यह है कि कबीर जी व नानक जी जैसे क्षेत्र में रहे हैं वहाँ की जनता साहित्य का आदर करने वाली तथा स्वयं शिक्षित थी, और दादू जी ऐसे क्षेत्र में सीमित रहे जहाँ का अधिकांश जनसमुदाय साहित्य के महत्व से अपरिचित तथा इसका आदर न करने वाला था। अतएव पन्थ व समाज भी उसी क्षेत्र में सीमित रहा। यही कारण है कि आज इस उन्नतिशील सौवर्ष बाद भी देश का अधिकांश समुदाय उन के तथा उनके अनुयायियों के साहित्य से अपरिचित है।

अस्तु, जो कुछ भी हो, दादू जी की वाणी हिन्दी साहित्य व सन्त साहित्य का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। कुछ दार्शनिक विचारों को उनकी वाणी से चुन कर दर्शनों के समन्वय सहित यहाँ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। यह प्रयत्न कहाँ तक ठीक है इसका निर्णय सहृदय व विज्ञ पाठक ही करेंगे।

दार्शनिक विचारधाराओं के विवेचन से पहले दर्शन शब्द का क्या अर्थ है। दर्शन कितने हैं। तथा यहाँ कितने दर्शनों का समन्वय अभिप्रेत है इत्यादि बातों का निर्णय कर लेना युक्तिसंगत है।

ज्ञानार्थक दृश् धातु से ल्युट्—ल्युडेनेलपा इस व्युत्पत्ति के द्वारा तत्वज्ञान के साधन विचार का नाम ही दर्शन है। दर्शन शब्द का यही अर्थ सामग्री ने किया गया है।

वस्तुतः विश्व के कारणभूत तत्त्व का विचार करने का नाम दर्शन है। अत भेद से दर्शनों के नाना भेद हैं जैसे ६, १२, १८ व ३६। सर्वदर्शनसंग्रह में श्री माधवाचार्य ने दर्शन के सोलह भेद माने हैं। किन्तु इतने दर्शन हमें यहां समन्वय के अभिप्रेत नहीं हैं। हमें आधुनिक समय में प्रचलित ६ आस्तिक दर्शन ही अभिप्रेत हैं। उन ६ दर्शनों में न्याय और वैशेषिक का प्रधान लक्ष्य पदार्थ विवेचन है। और पूर्वमीमांसा प्रधानतया कर्मों का विवेचन करता है। अतः इन तीन दर्शनों का समन्वय अध्यात्मतत्त्वप्रधान दादू जी की वाणी में नहीं मिल सकता। अवशिष्ट सांख्य, योग व वेदान्त ये तीन दर्शन बचते हैं जिनका समन्वय यहां किया जायगा। इनमें भी सांख्य आत्मतत्त्व के विषय में अधिकांशतः वेदान्तदर्शन से मिलता जुलता है। अतः उसका भी उक्त विषय में वेदान्त के साथ ही समन्वय हो जायगा। उसके दूसरे प्रधान विषय जो कि वेदान्त से मेल नहीं खाते, वे हैं प्रकृति को नित्य मानना, पुरुष को नाना स्वीकार करना तथा प्रकृत्यादितत्त्वों का विवेचन। इनका निरूपण भी यहां नहीं मिल सकता क्योंकि प्रकृत्यादितत्त्वों का विवेचन प्रधानतया अद्वैतमत की हानि के उपाय न होने से यहां उपयोगी नहीं हो सकता। प्रकृतिनित्यता और पुरुषबहुत्व का निरूपण अद्वैतविरुद्ध होने से एक मात्र अद्वैत के उपासक दादू जी की वाणी में हो ही कैसे सकता है? अतः सांख्य का भी पृथक् समन्वय नहीं हो सकेगा। केवल एक दो बातों में उसका समन्वय करने की चेष्टा की जायगी। प्रधानतया वेदान्त व योग का समन्वय इस

आपको मिलेगा। साथ ही साथ शङ्करमत के पक्षिपाती पाणिनिदर्शन का समन्वय भी यहाँ किया जायगा। क्यों कि पाणिनिदर्शन भी अद्वैतवेदान्त दर्शन की तरह अद्वैत शब्द-ब्रह्म की सत्यता व सृष्टि को उसका विवर्त स्वीकार करता है।

इस तरह उपर्युक्त तीनों दर्शनों का संक्षेप में विवेचन कर हम प्रकृत वस्तु की तरफ आते हैं। वेदान्तदर्शन के अध्यर्हित होने से सर्व प्रथम हम उसी का समन्वय बतलायेंगे। इसमें भी सर्वतः प्रधान व वेदान्तदर्शन की मूल वस्तु ब्रह्म का ही अध्यर्हित होने से सरल रूप से सर्व प्रथम निरूपण प्रारंभ करते हैं।



कापड़ि और वेदान्त

'ब्रह्मनिरूपण'

दृश्यमान चराचर जगत् को पैदा करने वाली तथा जगत् को उत्पन्न कर उसमें अन्तः प्रविष्ट हो कर रहने वाली एवं जगत्पोषकरूप से उसका नियमन व संपालन करने वाली कोई शक्ति अवश्य है। उसी शक्ति को दार्शनिक काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, कर्ता, कर्म, ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि नाना नामों से पुकारते हैं जैसा कि 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इस श्वेताश्वतर श्रुति से, तथा

'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

इस श्लोक से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। संसार में जितने मत मतान्तर हैं। उतने ही उस के नाम हैं। सभी दार्शनिक तथा संसार के सभी धार्मिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में इस अवश्यक शक्ति को मानना अवश्य स्वीकार करते हैं। पहले मैं कौनसी शक्ति का इसे वेदान्तानुसार वर्णन करना है। वेदान्तमतानुयायी इस जगत् का अधिष्ठानीभूत निर्गुण निष्क्रिय

शुद्ध तथा अधिष्ठानस्वरूप मानते हैं। वे निर्गुण निरञ्जन, साक्षी, अज, अकर्ता, निर्विशेष आदि शब्दों से उसका व्यवहार करते हैं। वह सृष्टि से अतीत होता हुआ भी सृष्टि के अन्तः अधिष्ठ है। वह निष्क्रिय होता हुआ भी माया से शक्तिविशिष्ट हो कर जगत् का निर्माण करता है तथा अन्तर्यामी रूप से अन्तः अधिष्ठ होकर उसका संचालन भी करता है। जैसाकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' छा० उ० तथा 'स वेष्टु भूतेषु तिष्ठन् वेष्टेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति के द्वारा स्पष्ट है।

इस निर्गुण निर्धर्मक तथा सोऽहासोन ब्रह्म के परिचय के लिये वेदान्त दो प्रकार के लक्षण मानते गये हैं। १ तटस्थलक्षण, २ स्वरूपलक्षण। जिस लक्षण से लक्ष्य वस्तु का स्वरूप न बतला कर केवल उसके कार्यादि द्वारा उस वस्तु का परिचय कराया जाता है उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं, तथा जिस लक्षण से वस्तु के स्वरूप की पहचान हो उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। वेदान्तसार के अनुसार तैत्तिरीयभृगु में पठित 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" तै० उ०। अर्थात् जिस तत्त्व से इस सकल संसार की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा इसकी स्थिति है और अन्त में जिस तत्त्व में इस का लय होता है वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म का तटस्थलक्षण है, क्योंकि इस में ब्रह्म के स्वरूप का निर्वचन न कर जगत् की उत्पत्त्यादि द्वारा कारणत्वेन उसका निर्देश कर दिया है। 'जन्माद्यस्य यतः' इस वेदान्त सूत्र के द्वारा भी ब्रह्म का यही

तटस्थलक्षण बतलाया गया है। यथा 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है, क्योंकि इसमें ब्रह्म के आत्यन्तिक स्वरूप सत्यज्ञानादि का निर्देश किया है। यहाँ तक ब्रह्म के स्वरूप का संक्षेप से विचार किया। दादू जी भी वेदान्तानुयायियों की तरह अद्वैत ब्रह्म के मानने वाले हैं। वो सभी निर्गुणी सन्तों ने, ब्रह्म, माया, संसारमिथ्यात्व आदि विषयों के निरूपण में वेदान्त मत का ही अनुसरण किया है, किन्तु दादू जी इस विषय में अपने पूर्ववर्ती सन्तों से आगे बढ़ गये हैं। दादू जी के ब्रह्मविषयक विचार अत्यधिक अंशों में वेदान्तसिद्धान्त से मेल खाते हैं। नीचे बतलाये हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। सर्वप्रथम ब्रह्म के लक्षण को ही देखिये—

परम तेज परात्परं परमज्योति परमेश्वरम्।
सकल ब्रह्म सदई सदा दादू अविचल स्थिरम्॥
परं ब्रह्म परात्परं सो मम देव निरंजनम्।
निराकारं निर्मलं तस्य दादू वन्दनम्॥
कृतम नहीं सो ब्रह्म है घटै बढ़ै नहिं आय।
पूरण निहचल एकरस जगत न राचे आय॥
ना वह जामै ना मरै ना आवे गर्भवास।
दादू ओपे सुख नहीं नरक कुण्ड दस मास॥
अविनाशी सांचि सत्य है जे उपजै विनसै नांहि॥
दादू अविचल आप है कबहूं विचलै नांहि।

घटै बधै नहीं एकरस सब उपजि खपै उस मांहि ॥
टटै न फैसे एकरस जागै सोवै नांहि ।
मरै न जीवै अगत गुरु सब उपजि खपै उस मांहि ॥

इन साखियों में ब्रह्म के स्वरूप तथा तटस्थ दोनों ही लक्षण बतला दिये हैं। आरंभ की दो साखियों में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बतलाया है क्योंकि उनमें परमतेज, परब्रह्मज्योति आदि पदों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निर्वचन किया है अन्त की साखियों में 'सब उपजि खपै उस मांहि' इत्यादि पदों द्वारा तटस्थ लक्षण बतलाया है। साथ ही इन साखियों में सर्वधर्म-निषेध द्वारा भी ब्रह्म के स्वरूप का विचार किया है। इतना ही नहीं, यदि ध्यान से देखा जाय तो इन साखियों में ब्रह्म को षड्भावविकाररहित भी बतलाया गया है।

यास्क निरुक्त में अस्तिता, स्थिति, परिणाम, वृद्धि, अपक्षय तथा विनाश ये छः भाव विकार बतलाये हैं। ब्रह्म इन भाव-विकारों से रहित है। दादू जी ने "घटै बधै नहीं जाय" 'ना कहु आवै ना मरै' 'सबसे बिनसै नांहि, इत्यादि वचनों द्वारा अस्तिता, वृद्धि, अपक्षय तथा विनाश इन चार भावविकारों का स्पष्टतया ब्रह्म में निषेध कर दिया है। पर्व अविचल शब्द के द्वारा विपरिणामरूप विकार का भी ब्रह्म में अभाव बतला दिया है। स्थिति या सत्ता उत्पत्ति के बाद में जहां होती है वहीं विकार है अन्यत्र नहीं। वस्तुतः ब्रह्म सदा सत्ता रूप है अतः सत्ता से भी वह रहित है। इस प्रकार उत्पत्त्यादि ६ भावविकारों से

रहित शक्ति है, यह भी इन वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। श्रुतिपद् की शक्ति को इसी प्रकार सर्वधर्मरहित बतला रहे हैं, जैसे—

एष नित्यो महिमा ब्रह्मणोऽस्य,
न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्
तस्यैव रूपाल्पदर्शित्व विदित्वा,
न कर्मणा लिप्यते पापकेन। मु० ३०
स वा एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो
विमृत्युर्विशोको विजिघित्सः। छा० उ०
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः। का० उ०
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं
निरञ्जनम्, श्वेता० उ० इत्यादि

ब्रह्म निर्धर्मक होता हुआ भी सर्वशक्तिमान् है, उसकी महिमा अचिन्तनीय है। अन्य प्राणियों का ज्ञान इन्द्रियादिसाधनसापेक्ष है जब कि परमेश्वर का ज्ञान उस से निरपेक्ष है तथा नित्य है। इसी लिये वैयाकरणों ने 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रमाणम्' इस वचन के द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान से इन्द्रियादिसाधनों की निरपेक्षता ही बतलाई है। इसी लिये —वेदान्त

—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः, श्वेता० उ०

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः
परयाम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो
न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् ॥श्वेता०॥

इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म को अचिन्त्यशक्ति तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के बिना भी सब कुछ देखने सुनने वाला (सर्वज्ञ) बतलाया है। दादू जी ने भी इसी बात को कितने सरल शब्दों में निम्न साखियों में बोधन किया है

बिन श्रवणहु सब कुछ सुनै बिन नैनहु सब देखै
बिन रसना सब कुछ बोलै यहु दादू अचरज पेखै
हस्त पांव नहीं सीस मुख श्रवण नेत्र कहु कैसा ।
दादू सब देखे सुणै कहै यहै है ऐसा ॥

'ब्रह्म के सोपाधिक स्वरूप का निरूपण'

यहाँ यह लिखदेना कि अनुपद में ही सर्वेन्द्रियरहित बतलाया है सोपाधिक अवस्था में सर्वेन्द्रियसम्पन्न तथा सर्वधर्मोपपन्न बन जाता है। इस अवस्था का भी दादू जी ने निम्नलिखित साखियों में वर्णन किया है।

सबै दिसा सो सारिखा सबै दिसा मुख बैन ।
सबै दिसा श्रवणहु सुनै सबै दिसा कर नैन ॥

सर्वे दिसा पग सीस है सर्वे दिसा मन चैन ।
सर्वे दिसा सन्मुख रहैं सर्वे दिसा अंग ऐन ॥

श्रुतिग्रन्थ भी स्वाभाविक अवस्था में सबके हृदी स्वरूप का निरूपण करते हैं ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ श्वेता० उ०
सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥ श्वेत० उ०
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वपस्पात् । श्वेता० उ०

ब्रह्म की जीवव्याप्ति

ब्रह्मरूप चैतन्य सर्वव्यापक होने से शरीर में तथा भूतों के अणु अणु में व्याप्त है । इन्हीं भूतों से वह विवेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । इसीलिये केन श्रुति "भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" केन० ख० । इस वचन के द्वारा भूतों में ही उसकी गवेषणा का उपदेश दे रही है । वह सर्वव्यापक परमेश्वर (ब्रह्म) अन्तःकरण प्रतिबिम्बरूप जीव में भी व्याप्त है । वह जीव में अन्य भूतों की तरह व्याप्त होने पर भी अन्य भूतों से जैसे उसका स्वरूप भिन्न है उस तरह जीव से उसका स्वरूप भिन्न नहीं है ।

क्योंकि अन्य भूत तो अचेतन हैं और जीव चेतन है अतः उसमें वह स्वाभाविक रूप से ही व्याप्त है, जैसे तिल पुष्प आदि में तैल व गन्ध आदि। श्री दादूजी ने वह चैतन्य तत्व जीव में तथा इन भूतों में किस प्रकार व्याप्त है इसका कैसा सुन्दर निरूपण किया है जरा ध्यान दीजिये।

ज्यों यें तेल तिलनि में ज्यों यें गन्ध फुलनि।
ज्यों यें मालम खीर में हैं से रच कहनि॥

पुहपवास फल दूध में अब कासों कहिये।
पाहन लोह बिच बासुदेव ऐसे मिल रहिये॥

यहां तिलतैलादि के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म की व्यापकता का बहुत ही सरल व सरस ढंग से वर्णन किया है। ब्रह्म भूतों में रहता हुआ भी अविद्यामय जड़ भूतों से आवृत होने के कारण प्रतीत नहीं होता किन्तु प्रयास करने से ही उसकी प्रतीति हो सकती है। इस बात को भी उपर्युक्त दृष्टान्तों से प्रतीति होती है।

उपनिषद् भी इन्हीं दृष्टान्तों द्वारा इस अर्थ को इसी रूप में बतला रहे हैं—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

श्वेता० १।१५

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ।
पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥

ब्रह्म की निराधारता व स्वप्रतिष्ठता का निरूपण

वेदान्त का सिद्धान्त है कि महाकाशादिक सभी वस्तुएं मिथ्या हैं वे ब्रह्म में अध्यस्त हैं। ब्रह्म ही अध्यस्त सारे प्रपञ्च का अधिष्ठान या आधार है। किन्तु ब्रह्म का कोई भी आधार या प्रतिष्ठा नहीं, वह अपने आप में ही प्रतिष्ठित है। इसी लिये उपनिषदों में ब्रह्म को सर्वाधार बताया और जब यह प्रश्न किया जाता है कि 'स भगवः कस्मिन्नु प्रतिष्ठितः' अर्थात् वह सर्वाधार ब्रह्म किस वस्तु पर प्रतिष्ठित है तो यही उत्तर मिलता है कि 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' अर्थात् वह अपनी महिमा में, अपने आप में ही प्रतिष्ठित है। श्री दादू महाराज ने भी प्रश्नोत्तर के द्वारा इसी बात का बहुत सुन्दर वर्णन किया है—

प्रश्नः—अलख देव गुरु देहु बताई,
कहां रहे त्रिभुवन पतिराई ।
धरती गगन पवन कछु नाहीं,
तिहुं लोक में कहां निवास ॥१
जल थल पावक पवना दूरि,
चन्दा सूर निकटि के दूरि ।

मन्दिर कौन कौन परवार,
आसन कौन कहा करतार ॥३॥
अलख देव गति लखी न जाइ,
दादू पूछै कहि समझाइ ॥४॥

उत्तर:—(दादू) सुफली माहिं मैं रहूं, मैं मेरा परवार।
सुफली माहिं मैं बसूं, आप कहैं करतार॥
मैं ही मेरे अरस में, मैं ही मेरे थान।
मैं ही मेरो ठौर में, आप कहैं रहिमान॥
मैं ही मेरे आसरे, मैं मेरे आधार।
मेरे तकिये मैं रहूं, कहैं सिरजनहार॥
मैं ही मेरी जाति में, मैंही मेरा अंग।
मैं ही मेरा जीव में, आप कहैं परसंग॥

आप ही इन साक्षियों में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य है। ब्रह्म का कोई दूसरी वस्तु आधार नहीं अतः वह विजातीय भेद रहित है, क्योंकि यदि दूसरी वस्तु होती तो ब्रह्म का आधार भी कोई मिल जाता। तथा 'मैं ही मेरी जाति में' इस पद के द्वारा ब्रह्म में सजातीयभेदशून्यता भी बतला दी है क्योंकि उसका सजातीय नहीं है और कोई नहीं। तथा 'मैं ही मेरा अंग' इस चरण के द्वारा स्वगतभेदशून्यता का भी बोधन कर दिया है, क्योंकि अवयवों में अवयवों के भेद के द्वारा ही

स्वगतभेद नहीं करता है, जैसे वनुष्य में करचरणादि अवयवों के भेद के कारण स्वगत भेद रहता है। ब्रह्म का ब्रह्म ही अवयव है और कोई नहीं, अर्थात् वह निरवयव है। और निरवयव में अवयवकृत भेद (स्वगतभेद) बनता नहीं। इस प्रकार यहां में स्वगतभेदशून्यता की उक्ति भी इन श्रुतियों से ही कही है। श्रुतिपद्य भी स्थान स्थान पर इस अर्थ का बोधन करते हैं—

सर्वभूतान्तरात्माऽहमहमस्मि सनातनः।
अहं सर्वद्विजातोऽस्मि सर्वे मद्दिस्मि सदा स्थितः॥ ब्र.बि.उ.

स्वयमेव स्वयं भासि स्वयमेव सदात्मकः।
स्वयमेवात्मनि स्वस्थः स्वयमेव परा गतिः॥

स्वयमेव स्वयं भुञ्जे स्वयमेव स्वयं रमे।
स्वस्यात्मनि स्वयं हंसे स्वात्मन्येव विलोकये।
स्वात्मन्येव सुखासीनः स्वात्मनोऽन्यन्नवीक्षकः। तेजोबिन्दु उ.

यहां तक ब्रह्म के लक्षणभूत सर्वैक्यापकत्व, अभिन्नत्व शक्तिमत्व आदि का विवेचन किया। ब्रह्मविषयक अन्य बातों का निरूपण करने से पहिले ब्रह्म के लोपाधिक रूप मायाविशिष्ट ईश्वर का निरूपण किया जाता है।

  

'ईश्वर निरूपण'

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म सर्व-धर्म रहित होता हुआ भी मायारूप उपाधि के द्वारा जिसको कि वैदान्तिक ऐश्वरी शक्ति भी कहते हैं, सर्वधर्मोपपन्न बन जाता है। उसी मायारूप शक्ति के द्वारा सर्वज्ञादि से सम्बन्ध होता है। यही बात 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इस वेदान्त सूत्र को उपपन्न करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने 'सर्वज्ञः सर्वशक्ति महामायः ब्रह्म' अर्थात् यह निर्धर्मक ब्रह्म माया के द्वारा सर्वधर्मोपपन्न सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है, इस वचन के द्वारा स्पष्ट बतला दी है। इसी माया से विशिष्ट होकर यह ईश्वर तथा अन्तर्यामी कहलाता है। क्योंकि सब भूतों के अन्तःप्रविष्ट होकर शासनकर्तृत्व, माया की सहायता के बिना कर्तृत्वादिधर्मरहित ब्रह्म से नहीं बन सकता। किन्तु मायाविशिष्ट होते हुए भी जैसे जीव अविद्या के वशीभूत रहता है वैसे यह ईश्वर माया के वशीभूत नहीं होता, अपितु माया इसके अधीन रहती है। इसलिये पञ्चदशी में 'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः' इस वचन के द्वारा ईश्वर को स्वतंत्र और 'अविद्यावशगोऽन्यः' इस वचन के द्वारा जीव को अविद्या के अधीन बतलाया है।

यह ईश्वर (अन्तर्यामी) इस शरीर के अन्दर हृदयप्रदेश में जीव के पास ही रहता है। यही जीव के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा उनके विधान द्वारा फलप्रदाता भी है। समय

समय पर शुद्धान्तःकरण वाले पुरुष को उससे भेंटवार्ता भी मिलती रहती है। यही हृदयस्थ ईश्वर का निर्देश करती हुई गीता लिखती है कि

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

अर्थात् वह अन्तर्यामी ईश्वर हमारे हृदयप्रदेश में प्रतिष्ठित होकर अपनी माया रूपी शक्ति के द्वारा सब का संचालन कर रहा है। वही ईश्वर सब भूतों के अन्तःस्थित होकर नियामक होने से अन्तर्यामी तथा शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा होने से साक्षी कहलाता है। इस अन्तर्यामी ईश्वर को जीव जब तक नहीं पहचान लेता और पहचान कर उसकी शरण में नहीं चला जाता तभी तक दुःख या संसार है, बाद में नहीं। इसी बात की घोषणा मुण्डकश्रुति स्पष्ट शब्दों में कर रही है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥'

अर्थात् हृदयरूपी वृक्ष में जीव के पास ही सर्वैश्वर्यवान् ईश्वर मौजूद है किन्तु अविद्या के कारण उसको न पहिचान कर अपना दुःखस्वरूप स्वस्वरूप को न पहिचानने के कारण ही यह दुःख

पा रहा है। जिस दिन वह अपने स्वरूपभूत सम ईश्वर को पहिचान लेता है सब दुःखों से छुटकारा पा जाता है। गीता में भगवान् स्वयं अर्जुन को दुःखनिवृत्ति रूप शान्ति का यही उपाय बतला रहे हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

अर्थात् यदि शान्ति का मोल प्राप्त करना है तो सर्वात्मना सर्वहृदयस्थ कूटस्थ अन्तर्यामी ईश्वर की शरण ले। निम्नलिखित साक्षियों में आपको सभी अन्तर्यामी का निरूपण बहुत ही संक्षिप्त तथा सरल शब्दों में मिलेगा—

सब देखनहारा जगतका अन्तर पूरै साखि।
दादू स्वामी सो सदा दूजा और न राखि॥

इस साखी में 'सर्वसाक्षित्व अन्तर्यामित्व का पहिले दो 'परत्व' के संक्षेप से निरूपण कर तृतीय चरण में केवल उसी साक्षी अन्तर्यामी ब्रह्म का आत्मत्वप्रतिपादन कर चतुर्थ चरण में उसकी प्राप्ति का उपाय तूष्णींभाव की निष्ठा अर्थात् उससे अतिरिक्त सभी की चिन्ता छोड़कर हृदय में उसी को अपने का भी उपदेश कर दिया है। दूसरी साखी में इसने इस बात को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

मांही थे मुझसौं कहैं अन्तर जामी आप ।
दादू दूजा धंध है साचा मेरा जाप ।

इन शब्दों में उस अन्तर्यामी की प्रेरणा को भी प्रकट कर दिया है जो कि शुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को अवश्य समय पर अच्छे कार्य के लिये या सन्दिग्ध कार्य के निर्णय के लिये शिक्षा करती है। आज कल भी इस अन्तर्यामी रूप आत्मात्मा की प्रेरणा का अनुभव म० गांधी जी ने अपने जीवन में बहुत बार किया है।

यहां यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यही अन्तर्यामी ईश्वर सारे संसार का नियामक है तब उसमें कर्तृत्व धर्म आ जाता है। साथ ही जो करने वाला है वही भोगने वाला है इस दार्शनिक नियम के अनुसार भोक्तृत्व भी इस साक्षी का ही धर्म हो जाता है। ऐसा होने पर जीव की तरह साक्षी ईश्वर को भी सुख दुःख होने चाहियें। किन्तु जीव में सुख दुःख का भोग न होकर ईश्वर में ही होना चाहिए। क्योंकि 'स एव साधु कर्म कारयति तमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते स एवासाधु कर्म कारयति तमधो निनीषते' इ० व०, अर्थात् यही ईश्वर उस पुरुष से अच्छे कर्म करने की प्रेरणा करता है जिसको कि यह ऊपर करना चाहता है और यही उस पुरुष से जिसको कि पतित करना चाहता है बुरे कर्म करवाता है 'इत्यादि श्रुतियां जीव में स्वतन्त्रता शुभाशुभकर्मकर्तृत्व का तिरस्कार कर अन्तर्यामी ईश्वर में ही बतला रही हैं। इसका उत्तर यही है कि यह ईश्वर भी स्वेच्छा से स्वतन्त्रता

ईश्वर भी नहीं करता है, न उसमें कर्तृत्व की भावना ही है किन्तु वह चैतन्य स्वरूपमात्र से अन्तःकरणादि के अन्तःकरणविशिष्ट जीवादि का प्रवर्तक है। जीव अपने कर्मों के अनुसार ही फल पाया करता है। ईश्वर जल की तरह केवल कर्मफल प्रदाता है।

इसीलिये सांख्यदर्शन में सूत्रकार ने 'तत्संनिधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' इस सूत्र के द्वारा संनिधानमात्र से चैतन्यस्वरूप पुरुष में कर्तृत्व और वस्तुतः अकर्तृत्व बतलाया है। योगवाशिष्ठ में भी—

निरिच्छे संस्थिते शस्त्रे यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अतः आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधि मात्रतः॥

इन पद्यों के द्वारा इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् जैसे चुम्बक की सत्तामात्र से लोह का आकर्षण हो जाता है चुम्बक में अचेतन होने से वास्तविक आकर्षण नहीं है। उसी प्रकार से चैतन्य की सत्तामात्र से भूतों में प्रेरणा बन जाती है उसी को लेकर वस्तुतः ईश्वर में कर्तृत्व न होते हुए भी वह कर्ता कहलाता है। ब्रह्मसूत्र में भी 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' इस श्लोक की व्याख्या करते हुए भगवान् शंकराचार्य

ने भी गीता के आत्मिकादिधर्मों को वस्तुतः सम्बन्धनिर्वाहमात्र-से ही बतलाई है। दादू जी ने भी निम्नलिखित साखियों में इसी अर्थ का संकेत किया है—

करता है सो करैगा दादू साखीभूत।
कीतिगहारा है रहा अरु कर्ता औधूत॥
आप अकेला सब करै घट में लहर उठाय।
दादू सिरदे खोय के यों न्यारा है जाय॥
कर्ता है करि सब कुछ करै उन मांहि बंधावै॥
रहै निरारा सब करै काहू लिप्त न होय।
लिपै छिपै नहीं सब गुण करै गुण नहीं व्यापै कोय।
दादू निहचल एकरस सहजै सब कुछ होय॥
बिन गुण व्यापै सब किया समर्थ आपै आप।
निराकार न्यारा रहै दादू पुन्य न पाप॥

साखियों का अर्थ स्पष्ट है। जेखाखित साखी भागों से वस्तुतः अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हो रहा है। आप ही इतना और बतला देना अवश्यक न होगा कि 'कर्ता है करि सब कुछ करै सब मांहि बंधावै' इस साखी के द्वारा जीव को भी कर्तृत्वाभिमान से संसारूप बंधन हो रहा है अन्यथा कर्म करते रहने से भी नहीं होता' इस तात्पर्य द्वारा शंकरादि सिद्धान्त का भी अतिवादन किया है।

इससे सम्बन्ध से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्रह्मचैतन्य अन्तर्यामी कूटस्थरूप माया से अतिरिक्त नहीं है। यही जब मायोपाधि द्वारा सर्वादिकर्ता होता है तब अन्तर्यामी या महेश्वर कहलाता है। और यही जब उदासीन रहता हुआ सन्निधिमात्र से सबका प्रवर्तक होता है तब साक्षी कहलाता है। इसी साक्षी का वर्णन—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'

यह सुपर्णश्रुति कह रही है। ब्रह्मचैतन्य इसी साक्षी का वर्णन गीता में भी—

'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ १३।२४॥

इस श्लोक में दुहराया गया है। यह कूटस्थ शुद्ध चैतन्य है। यह सदा जीव के पास रहता है क्योंकि यही चिदाभास रूप जीव का अधिष्ठान है। किन्तु जीव अविद्या के कारण इसको नहीं पहिचान रहा है। इसी से जीव को संसाररूप बन्धन हो रहा है। श्री दादू जी तथा अन्य महात्मा इस निर्गुण निरञ्जन शुद्ध सत्य कूटस्थ को पहिचानने या जानने का उपदेश दे रहे हैं। यहाँ हम इतना और बतला देना चाहते हैं कि जीव और कूटस्थ में क्या भेद है तथा कूटस्थ अन्तःकरण से ढका हुआ भी कैसे उसके धर्मों से निर्लिप्त है। वेदान्तमत-

तुषार चैतन्य के तथाभिभेद से चार भेद हो जाते हैं जीव कूटस्थ, ईश्वर तथा ब्रह्म। इन्हीं चार भेदों का 'कूटस्थो ब्रह्म जीवेशाविति भेदं चिदचतुर्विधा' इत्यादि पञ्चदशी के द्वारा पञ्चदशी से विचार पूर्वक वर्णन किया है। इन में जीव और कूटस्थ ये दो भेद आपाधिक हैं। अन्तःकरण के संबंध से ही इन दो भेदों की सत्ता है। इसमें भी कूटस्थ अन्तः करणोपहित तथा जीव अन्तःकरणविशिष्ट है। पहिले में अन्तःकरण उपाधि तथा दूसरे में विशेषण है। विशेषण का विशिष्ट से संबंध रहने के कारण विशिष्ट जीव उसके धर्मों से पृथक प्रतीत होता है। और उपाधि पंचक परिच्छायक मात्र होती है, उसके धर्म उपहित में नहीं आते। अतः उपहित कूटस्थ शुद्धचैतन्य अर्थात् ब्रह्म ही कहलाता है। इस प्रकार से सर्वव्यापक सूक्ष्मवर्तीत शुद्धब्रह्म हमारे शरीर में हृदयप्रदेश में भी वास करता है और वहाँ पर अन्तःकरण व बुद्धि के अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण स्वच्छ जल एक प्रतिबिम्बसदृशधर्म अर्थात् पंचोपाधि उपाधियों से सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह चैतन्य का प्रतिफलन भी अत्यन्त स्पष्ट होता है। इससे अच्छा स्थान उस ब्रह्म को प्राप्त करने का कौन सा हो सकता है। जब हमारे शरीर के अन्दर हृदयप्रदेश में ही उसकी उपलब्धि हो जाती है तो उसकी प्राप्ति के लिये अन्यत्र कहाँ भटकें। किन्तु अविद्या जिसको कि ब्रह्म की प्राप्ति व ज्ञान की आवरकता है वह भी वहीं विद्यमान है। अन्यत्र उसकी सत्ता बन नहीं सकती क्योंकि अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य को ही जीव संज्ञा है। अतः अद्वैतवेदान्तियों में तथा अद्वैतानुयायी निर्णयो सन्तो

के उपकी प्राप्ति का स्थान अन्तःकरण को ही बतलाया तथा अन्तःकरण में ही उसको प्राप्त करने का उपदेश दिया। निम्न लिखित साखियों के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जायगी—

ज्ञान लहर जहां थे उठै, वाणी का परकास।
अनभै जहांथे ऊपजै शब्दै किया निवास॥

सो घर सदा विचार का तहां निरंजन बास।
तहं तूं दादू खोज ले सकल जीव के पास॥

जहं रस मत का मूल है, उपजै ओंकार।
अनहद सेवा शब्द का कातम करै विचार॥

भाव भगति लै ऊपजै सो ठाहर निज सार।
तहं दादू निधि पाइये निरन्तर निर्धार॥

ज्ञान की उत्पत्ति अन्तःकरण में ही होती है। ज्ञान अन्तःकरण का ही परिणाम या धर्म है। लौकिक घटपटादिज्ञान को अन्तःकरण परिणाम दार्शनिक मानते ही हैं। किन्तु जीवब्रह्मैक्य के साक्षात्कारकारक विशेष ज्ञान को भी वेदान्ती अन्तःकरणपरिणाम ही मानते हैं। इसी लिये भामतीकार वाचस्पति ने 'न चायमनुभवो ब्रह्मस्वभावो येन न जन्यते अपि त्वन्तःकरणस्यैव परिणामविशेषः' इत्यादि वचन के द्वारा स्पष्टतया अन्तःकरणपरिणाम ही उसे बतलाया है। इन साखियों में ज्ञानपद से सामान्य ज्ञान तथा अनुभवपद से ब्रह्म साक्षात्कारजनक विशेषज्ञान समझना चाहिए।

सर्व परा पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी भेद से भिन्न वाणी (शब्द ब्रह्म) का विकास भी अन्तःकरणान्तर्वर्ती हृदयाकाश से ही होता है। इस बात का विवेचन 'शब्द ब्रह्म निरूपण' प्रकरण में किया जायगा। भाव अभाव जय सुखादि आदि भी अन्तःकरण के धर्म होने से अन्तःकरण से ही पैदा होते हैं, जैसा कि 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा... हृदयेऽधैं मन एव' इस ऐतरेयश्रुति से स्पष्ट बोध हो रहा है।

इस तरह बाबू जी ने अन्तःकरण व अन्तःकरणवर्ती हृदयाकाश का नाम न लेकर भी तटस्थलक्षण द्वारा उसका परिचय करा दिया है। इतने पर भी किसी को ध्यान में न आवे तो आगे 'ब्रह्म जीव के पास' इस वाक्य के द्वारा बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् जीव के पास ही अधिष्ठानभूत वह हृदाकाश शुद्ध ब्रह्म विद्यमान है। जीव अन्तःकरणाभिविशिष्ट चैतन्य को कहते हैं। अतः सुतरां जीव के पास होने से अन्तःकरण के ही पास की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। इसीलिये सुरेश्वराचार्य ने एकमूलविद्यासंश्लिष्ट रूप के कथन द्वारा हृदयस्थ एक परोक्ष से जीव और ब्रह्म दोनों की स्थिति बतलाई है। किन्तु अहर्निश पास में रहने पर भी जीव अविद्या के कारण उसके स्वरूप को पहिचान नहीं पाता। अविद्या की निवृत्ति विद्या के बिना नहीं हो सकती और विद्या का उदय विचार के बिना नहीं हो सकता। इसी लिये पञ्चदशीकार ने 'विद्या दुर्बेद्य विचारतः' नि० दी० प० इस

वचन के द्वारा विद्या को विचारजन्य ही बतलाया है। दादू जी ने भी इसी बात को 'सो पर सदा विचार का' इस पद के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि उस तुरीय चिद्घन स्वरूप को केवल विद्या वस्तुविवेक रूप विचार से ही प्राप्त किया जा सकता है।

श्रुतियाँ भी 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ मुण्ड.।
हृदि ह्येष प्रतिष्ठितः'

इत्यादि वचनों द्वारा हृदय में ही उसकी स्थिति बतला रहे हैं। इस दादू से कह वास्तव में ज्ञानरूप ब्रह्म हृदय में ही है तब बाहर विषयों में व जगत् में तलाश करना मूर्खता ही है। बाहर भी ब्रह्म को अपना को हम तभी जान सकते हैं जब हम अपने हृदयस्थ परमात्मा को पहिचान लेवें। अतः दादू जी ने परमात्मा को खोज कर उसको तलाश के लिये उसमें से ही इधर उधर काल्पनिक विषयों में भटकने वालों को स्पष्ट चेतावनी दी है, तथा शरीर में ही उसकी अवस्था बतलाई है। जैसे—

दादू मंझे चेला मंझे गुरु मंझेइ उपदेश।
बाहर दूंढै बावरे तहां बधावे केश॥

कोई दौड़े द्वारिका कोई काशी जाँहि ।
कोई मथुरा को चले साहिब घटही माँहि ॥क० मू०॥
काया अन्तर पाइया सब देवन का देव ।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव ॥

यद्यपि अनुभव में ही यह बतला दिया गया है कि विचार के द्वारा जीव को विद्या की प्राप्ति हो जाती है किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि केवल विचारमात्र से ही महावाक्यजनक अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और अपरोक्ष ज्ञान के बिना मैं अन्यत्व, परिच्छिन्नता तथा मल से मिश्र हूँ इत्याकारक अपरोक्ष भ्रांति की निवृत्ति हो नहीं सकती, अतः विचार के साथ महावाक्यजन्य निदिध्यासन की भी आवश्यकता रहती है। इसी निदिध्यासन को योगदर्शनवाले ध्यान कहते हैं। इस निदिध्यासन का हम आगे निरूपण करेंगे। इसी ध्यानरूप निदिध्यासन के द्वारा मन बाह्यविषयों से हट कर अन्तःस्थित प्रत्यगात्मा की तरफ लग जाता है। जब मन बाह्य विषयों से हट कर अन्तरात्मा की तरफ झुक जाता है तब अनेक प्रकार के रमणीयरूप के दर्शन होते हैं। मन के साथ ही मन की अनुगामिनी अन्य इन्द्रियाँ भी उधर ही झुक जाती हैं। यही से अन्तरात्मा का साक्षात्कार होता है। इसी लिये कठ श्रुति यह दर्शन के लिये अन्तर्मुखी वृत्ति का उपदेश दे रही है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू—
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्—

दाक्षायणयज्ञमृतत्वमिच्छन् ॥कठ०॥

अर्थात् प्रजापति ने इन्द्रियों का मुख बाहर की तरफ किया है अतः स्वभावतः उनका झुकाव बाह्य विषयों की तरफ ही है अन्तरात्मा की तरफ नहीं। किन्तु कोई कोई विरला पुरुष मन को अन्तर्मुख कर इन्द्रियों के व्यापार को अन्तर्मुख कर लेता है वह अन्तरात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। दादू जी ने निम्न साखियों से इसी आशय को व्यक्त किया है।

'दादू घट कस्तूरी मृग के भ्रमत फिरै उदास।
अन्तर गति जाने नहीं तातैं ढूंढे पास॥
अपने नैनहुं आप को अब आतम देखैं।
तहँ दादू पर आतमा ताही कूं पेखैं॥

यह अन्तर गति मन और इन्द्रियों की अन्तर्मुखी वृत्ति ही है, जिसके लिये कस्तूरिया मृग की तरह अपने आप में स्थित परमात्मा को यह जीव जानने नहीं पाता। जब इसकी अन्तर्मुखी वृत्ति हो जाती है तभी यह वहीं पर विद्यमान ब्रह्मचैतन्यरूप परमात्मा का अर्थात् स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

इस तरह निदिध्यासनपूर्वक विचार करने से ब्रह्म-साक्षात्कारजनक अनुभव पैदा होता है, वही यह विदेहज्ञान है जिसे कि अनुभव में अन्तःकरण का परिणामविशेष बन-

जाता है। इस अनुभव के पैदा होते ही जीव को अपने स्वरूप ब्रह्मरूपता का मालूम पड़ जाता है उस समय जीव के जितने अतीत व अनागत कर्म हैं सभी का समूल उच्छेद हो जाता है। क्योंकि जितने भी कर्म हैं के सब अविद्यामूलक हैं और अनुभव के द्वारा अविद्या का ही नाश हो गया तब भला अविद्यामूलक कर्म शेष रह ही कैसे सकते हैं? इसीलिये कठ-श्रुति ब्रह्मानुभव होते ही सब कर्मों का नाश बतला रही है। जैसे—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥कठ॥

दादू जी ने भी इसी बात का निम्नलिखित साखी में कितना स्पष्ट व सुन्दर वर्णन किया है, देखिये—

जब घट अनभै ऊपजै तब किया कर्म का नास।
ज्यों भ्रम भागै सर्व पूरण ब्रह्म प्रकास॥

ब्रह्मानन्द की अनिर्वचनीयता

इस तरह से जीव आनन्दरूप परब्रह्म का अनुभव कर लेता है, किन्तु वह उसका वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि ब्रह्मानन्द अनिर्वचनीय है। ब्रह्मानन्द की इस अनिर्वचनीयता का ही दादू जी ने कैसा अच्छा निरूपण किया है, देखिये—

'गूंगे का गुड़ का कहै, मन जानत है भाय ।
त्यों राम रसायन पीवतां, सो सुख कह्या न जाय ॥

ब्रह्मानन्द की अनिर्वचनीयता का निरूपण करने के लिए गूंगे के गुड़ का दृष्टान्त कितना सरल, लोकप्रसिद्ध तथा वर्णनीय वस्तु का साधक है। जैसे गूंगा गुड़ के माधुर्य का अनुभव करता है किन्तु फिर भी उसके रस को वाणी द्वारा बतला नहीं सकता, वैसे साधक जीव साक्षात्कार के बाद ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है किन्तु वाणी या अन्य साधनों के द्वारा वह उसका निरूपण नहीं कर सकता। यद्यपि शाङ्कर दर्शन के अनुसार ज्ञान हो जाने के बाद जीव ब्रह्म का भेद नहीं रहता। और अभेद अवस्था में कर्तृकर्मभावादि का लोप हो जाने से ब्रह्मानन्द का अनुभव भी नहीं बन सकता। फिर भी जीवन्मुक्ति दशा में वर्तमान सोपाधिक दशा को लेकर ही इसका समन्वय समझना चाहिए। अथवा निर्गुण भक्ति-मार्गी वाले सन्त शुद्धाद्वैतमत का अनुसरण करते हुए भी भक्ति-मार्गानुयायी होने से ब्रह्मसाक्षात्कार दशा में भी रसास्वादन के लिये यत्किंचित् भेद मानते हैं, जैसा कि सुन्दरदास जी ने लिखा है—

हरि में हरिदास विलास करै, हरिसों कबहूं न विछोह परै ।
हरि अक्षय त्यों हरिदास सदा, रस पीवन कूं यह भाव जुदा ॥

न केवल ब्रह्मानन्द ही अनिर्वचनीय है किन्तु स्वयं चिद्-घन ब्रह्मरूप अवस्थाभी भी। उसका भी हम 'इदमित्थमेव'

अर्थात् यह ऐसा ही है, इस तरह निरूपण नहीं कर सकते । क्योंकि शब्द द्वारा जिस किसी वस्तु का निर्वचन किया जाता है वह उसके किसी विशेष या सामान्य धर्म जात्यादि के द्वारा ही किया जाता है । ब्रह्म सर्वधर्मरहित है । अतः धर्म या जाति के द्वारा वस्तुनिर्वचन करने वाले शब्द की वहां गति नहीं । इसीलिये वह अनुपाख्य व निर्विशेष कहलाता है । पहिले 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि के द्वारा जो ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण बतलाया है उसका भी वास्तव में इतरनिवृत्ति द्वारा ब्रह्म बोधन में ही समझना चाहिये, या लक्षणा द्वारा ब्रह्म का बोध कराने में समझना चाहिये । शक्तिवृत्ति से कोई भी शब्द ब्रह्म का बोधन नहीं कर सकता । इसी लिये वेद जिसका निर्वचन 'आस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' नेति नेति, इत्यादि श्रुतियों से प्रपञ्चनिषेधद्वारा ही कर रहा है । साधुओं ने इसी अभिप्राय से 'वेद पुराणों का कहा' जहां वेद पुराण का गम नहीं" इत्यादि वचनों द्वारा वेद पुराण का मनोवचसगोचर ब्रह्म को कहा है । श्रुति भी 'संविदन्ति न यं वेदा विष्णुवेद न का विधिः, ६०३० इस वचन से इसी बात का समर्थन कर रही है । ऐसी स्थिति में भी साधु जी के उपर्युक्त वचनों के आशय को न समझ कर उन्हें वेदविरोधी, वेदनिन्दक और अवैदिक सिद्ध करना कितनी अविवेकिता व दुराग्रहता का कार्य है इसका विज्ञ पाठक स्वयं अनुभव करें । हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि साधु जी वेद के विरोधी नहीं किन्तु वेद के कट्टर समर्थक हैं । उन्होंने अपनी वाणी में वेद सिद्धान्तों (ब्रह्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, ईश्वर आदि) का ही निरूपण किया है ।

अस्तु, जैसे ब्रह्म का निर्वचन नहीं किया जा सकता वैसे ही पूर्णरूपेण विशेषतः उसके स्वरूप को भी नहीं जाना जा सकता। विशेषतया ज्ञान कराने वाले प्रत्यक्षादिप्रमाणों का वहाँ गति नहीं है। जैसा कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इस श्रुतिवचन से स्पष्ट है। किन्तु उसका विशेष स्वरूप है ही नहीं क्योंकि वह तो सर्वधर्मरहित निर्विशेष है। इसी लिये केनश्रुति—

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥केनोपनि०॥

इस वचन के द्वारा उसके स्वरूप को विशेषतया अविज्ञेय बतला रही है, और जो उसको विशेषतया अविज्ञेय समझता है, वही वस्तुतः उसका ज्ञाता है, क्योंकि जो निर्विशेष अर्थात् विशेषतया अविज्ञेय है उसको वैसा जानना ही उसका वास्तविक ज्ञान है। इस लिये सब प्रमाणों से अगम्य वस्तु को जानने का उपाय केवल अनुभव ही रोष रहता है। श्रुतियों के द्वारा ज्ञानी उसका अनुभव करते हैं। वह स्वयं अनुभवरूप है। अनुभव के स्वयंप्रकाश होने से उसके प्रकाश के लिये दूसरे किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इसी लिये वह साक्षी कहलाता है। इसी आशय से उसको, अवेद्य होने पर भी अनुभवैकवेद्य, बतलाया है। योगवाशिष्ठ भी स्पष्ट शब्दों में यही घोषणा कर रहा है। जैसे—

[illegible]
स्वरूपं नोपदेशस्य विषया विदुषा हि तत् ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां पदमगम्यमचिह्नितम् ।
स्वानुभूतिमयं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥

न दृश्यं नोपदेशार्हं नात्यासन्नं न दूरगम् ।
केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ॥

अर्थात्-ब्रह्म का स्वरूपज्ञान प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकता, वह तो स्वानुभवैकगम्य है, अनुभव द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है या जाना जा सकता है। दादू जी ने भी ब्रह्म की इस अविज्ञेयता और अनिर्वचनीयता का उल्लेख किया है। जैसे—

रतन एक बहु पारिखू, सब मिलि करैं विचार ।
गूंगे गहिले बावरे, दादू पार न पार ॥१॥

केते पारिख आँधरी, पण्डित ज्ञाता ध्यान ।
ज्ञानी ज्ञाइन जानिये, का कहि कथिये ज्ञान ॥२॥

केते पारिख अन्त न पावैं, अगम अगोचर मोहे ।
दादू कीमत कोइ न जाणैं खीर नीर की नांई ॥३॥

एक कहै तो दोइ है दोइ कहै तो एक ।
यूं दादू हैरान है क्यों है त्यों ही देख ॥४॥

पार न देवे आपणा गोप गूझ मन मांहि ।
दादू कोई ना लहै केते आवहि जांहि ॥५॥

यहाँ पहली दूसरी तीसरी और पाँचवीं साखी के द्वारा उसकी अविशेषता तथा चौथी के द्वारा उसके स्वरूप की अनिर्वचनीयता बताई है। 'कीमत' पद से ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए। दूसरी साखी में 'जाहया आइ न आवियै' इसके द्वारा उसके स्वरूप की अविशेषता बताकर 'का कहि कथिये ज्ञान' इस वाक्यांश से यह स्पष्ट किया है कि जब उसके स्वरूप को जानना ही दुष्कर है तब उसका निरूपण तो हो ही कैसे सकता है। इस प्रकार यहाँ तक काल्पनिक अवान्तर भेदों के साथ ब्रह्म, माया, ईश्वर तथा ब्रह्म व ब्रह्मानन्द की अनिर्वचनीयता आदि विषयों का निरूपण किया। अब आगे के प्रकरण में जीव का स्वरूप बताया जायगा।



जीव-निरूपण

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः चैतन्य एक ही है। जीव ईश्वर आदि भेद केवल औपाधिक हैं। जीवचैतन्य ब्रह्म से अभिन्न होता हुआ भी औपाधिक धर्मों के कारण परिच्छिन्न अल्पज्ञ व दुःखी प्रतीत हो रहा है। उपाधि के धर्म भी वस्तुतः उपाधि में ही रहते हैं किन्तु जीवचैतन्य अपने आपको उपाधि से पृथक् न समझने के कारण उपाधि के धर्मों को अपने धर्म समझता है, इसीलिये यह आनन्द-घन होता हुआ भी दुःखमय, व्यापक होता हुआ भी परि-

चिद्घन, सर्वज्ञ होता हुआ भी अल्पज्ञ, नित्य होता हुआ भी अनित्य व विनाशी, चिद्घन होता हुआ भी अज्ञानी एवं निर्विकार होता हुआ भी सविकार बालुक के रहा है। जिस दिन यह उपाधि से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप को पहिचान लेता है उसी दिन वह सब कष्टों से मुक्त हो जाता है। पहले तो हमें उसी जीव का निरूपण करना है। पञ्चदशी में अज्ञान व मुक्ति का अधिष्ठानभूत कूटचैतन्य तथा बुद्धि व अज्ञान से प्रतिबिम्बित चैतन्य, इनकी समष्टि को ही जीव बतलाया है। उपाधि में प्रतिबिम्बित आभासचैतन्य व्यष्टि उपाधि के दोषों से सम्पृक्त सा प्रतीत हुआ करता है। अतः उपाधि के भिन्न भिन्न होने के कारण आभास चैतन्य-रूप जीव के भी भिन्न भिन्न बन जाते हैं।

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥पञ्चादशी॥

विचारसागर में भी जीव का यही स्वरूप बतलाया गया है, जैसे—

अथवा व्यष्टि अज्ञान में जो चेतन आभास।
अधिष्ठान कूटस्थ युत कहैं जीवपद तास॥ वि.सा.च.त.८८॥

ब्रह्मसूत्र में भी 'आभास एव च' = ब्र० अ० २ पा० ३, इस सूत्र के द्वारा यही बात बतलाई गई है।

अपि च जीव अविद्याकृप उपाधि और तज्जन्य कर्मों के अधीन रहता है। वह ईश्वर की तरह उपाधि को नचाने वाला नहीं अपितु उसके अधीन होकर स्वयं नाचने वाला है। यही कारण है कि ईश्वर सोपाधिक होता हुआ भी कर्मों के प्रति स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र है। जैसे कर्म वह करता है उनका फल उसे भोगना पड़ता है। और उसे स्वकृत-कर्मानुसार ही योनिविशेष व लोकविशेष की प्राप्ति होती है। छा०-दीपनिषद्—

अथ इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥ छा० उ० ॥

इस श्रुति के द्वारा इसी बात का बोधन कर रहा है। अब जीव के इस स्वरूप और उसकी कर्मपरतन्त्रता का दादूजी ने भी निम्नलिखित साखियों में वर्णन किया है। जैसे—

जाहि मरै सो जीव है, जामिता राम न होय।
जामण मरण थें रहित है, मेरा साहिब सोय ॥
कर्म करावै जीव को, कर्मों को करतार।
करतार को कोई नहीं, दादू फेरन हार ॥

यहाँ पर पहिली साखी में 'आवै मरै सो जीव है' इस साखीभाग के द्वारा उपाधिद्वारा जन्म मरण को प्राप्त होने वाले औपाधिक चैतन्यरूप जीव का निरूपण स्पष्ट है। और इसी पूर्वार्ध के अन्तिम भाग में उस औपाधिक चैतन्यरूप जीव का शुद्ध ब्रह्म रूप से भेद बतला कर उत्तरार्ध में शुद्ध ब्रह्म का भी तटस्थ लक्षण द्वारा परिचय करा दिया है। दूसरी साखी में उपर्युक्त रीति से प्रतिपादित जीव की कर्मपराधीनता तथा अन्तर्यामी ईश्वर की उससे स्वतन्त्रता का उल्लेख है। दादू का यह ईश्वर, अन्तर्यामी व राम शुद्ध निरंजन ब्रह्मरूप ही है मायिक ईश्वर या मायिक राम नहीं। वे स्वयं लिखते हैं कि—

'माया रूपी राम को सब कोई ध्यावै।
अलख आदि अनादि है सो दादू गावै॥

इस तरह जीव के स्वरूप और पारतन्त्र्य का दोनों से विवेचन करने बाद हम जीव के स्वतन्त्र कर्तृत्व के निरूपण की ओर आते हैं।

जीव में स्वतन्त्र कर्तृत्व का निराकरण।

अनुपद ही यह बतला दिया है कि अन्तःकरणावच्छिन्न में प्रतिफलित चैतन्य जीव कहलाता है। अन्तःकरणादि में कर्तृत्व होने से अभास चैतन्य रूप जीव में भी औपाधिक कर्तृत्व है। इसी औपाधिक कर्तृत्व के कारण मैं करता हूं, मैं देखा हूं आदि जीव में कर्तृत्व का प्रतिपादन करने वाला लोकव्यवहार भी बन जाता है। इसी लोकव्यवहार से विमोहित होकर नैयायिकादि दार्शनिक आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व मान बैठे हैं। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इस सूत्र में लौकिक व वैदिक व्यवहार के बल से जीव में कर्तृत्व मान लिया है। इतना होने पर भी जीव में स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है किन्तु ईश्वरसापेक्ष ही है। 'परात्तु तच्छ्रुतेः। ब्र० सू० अ० २ पा० ३। इस वेदान्त सूत्र में इसी बात का निरूपण है। 'य एव साधु कर्म कारयति तं अमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति' इत्यादि श्रुतियां भी ईश्वरसापेक्ष कर्तृत्व का ही जीव में प्रतिपादन कर रही हैं।

इसी बात का निरूपण प्रश्नोत्तर द्वारा दादूजी ने निम्न लिखित साखियों में किया है—

प्रश्न—जे यहु कर्ता जीव था संकट क्यों आया।
कर्मों के वश क्यों भया क्यों आप बंधाया॥
क्यों सब यौनी भ्रमत में घरबार न पाया।
क्यों यहु कर्ता जीव हू परहाथ बिकाया॥

उत्तर—दादू कृतम काल वश धंधा गुण मांही ।
उपजै विनसै देखतां यहु कर्ता नांही ॥
जाती नूर अलाह का सिफाती अरवाह ।
सिफाती सिजदा करे आती बेपरवाह ॥

यहां जीव के सर्वथा कर्तृत्वखण्डन में दादू जी का तात्पर्य नहीं है किन्तु उसके स्वातन्त्र्यखण्डन में ही है। 'जाती नूर अलाह का' इस उत्तरार्द्ध के द्वारा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसका यह अर्थ है कि ब्रह्म स्वतंत्र तथा जीव परतन्त्र है। परतन्त्र जीव उपासना वन्दना आदि किया करता है जब कि स्वतन्त्र ब्रह्म बेपरवाह रहता है और कुछ भी नहीं करता।

साथ ही दादू कृतम, आदि तीसरी साखी के द्वारा जीव में जीवत्व मन, बुद्धि आदि के गुणों द्वारा औपाधिक ही है वास्तविक नहीं, तथा जीव की उत्पत्ति व विनाश भी औपाधिक ही है वास्तविक नहीं, इस बात का भी प्रतिपादन किया है। इसीलिये 'धंधा गुणमांही उपजै विनसै' यह लिखा है। ब्रह्ममीमांसादर्शन के 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्त्वात्' इत्यादि सूत्रों द्वारा प्रतिपादित चराचरव्यपाश्रयादि तीन अधिकरणों में इसी बात का प्रतिपादन किया है। जीवनिरूपण करते हुए यह बतलाया है कि जीव अन्तःकरणविहित आभासचैतन्यरूप है। अतः यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आभास चैतन्य का ही जीव धंधा क्यों है

अवच्छिन्न चैतन्य को कहीं नहीं। इसलिये आभासवाद का निरूपण प्रसङ्गवश यहाँ किया जाता है।

आभासवाद

हम पहिले बतला चुके हैं कि अन्तःकरणावच्छिन्न आभास तथा अधिष्ठानचैतन्य इन दोनों की समष्टि को जीव संज्ञा है। इस तरह से यद्यपि आभासवाद का निरूपण हो चुका है फिर भी शंका समाधान द्वारा व्युत्पत्तिनिबन्धनन्याय से उसी मत को पुष्ट करने के लिये प्रसङ्ग से फिर आभासवाद का निरूपण किया जाता है। अन्तःकरण में जिस चैतन्य का आभास पड़ता है वह अधिष्ठानभूत अन्तःकरणावच्छिन्न शुद्ध चैतन्य है। इस तरह से आभास का अधिष्ठान तो शुद्धचैतन्य है ही, किन्तु इस आभास में भी व्यापक शुद्ध चैतन्य की सत्ता विद्यमान है, जैसे सर्वव्यापक आकाश की सत्ता जल के प्रतिबिम्बित जलाकाश में भी है। इस तरह अधिष्ठान रूप से और आधेयरूप से शुद्ध चैतन्य के, आभासरूप जीव के साथ अन्तःकरण में रहने पर भी, क्या कारण है कि आभास तो उपाधि के दोषों से संयुक्त हो कर अल्पज्ञत्व, परिच्छिन्नत्व, जड़ता, मरणधर्मत्व आदि दोषों से युक्त माना जाता है और वहीं पर उसके साथ रहता हुआ शुद्धचैतन्य नहीं। इसका समाधान आभासवाद के द्वारा ही हो सकता है। जैसे एक घट में भरा हुआ जल है, इस जल में आकाश का प्रतिबिम्ब प्रतीत

होता है। घट परिच्छिन्न आकाश का आधार वा अधिष्ठान जो आकाश है वही, क्योंकि घटावच्छेद से अवच्छिन्न आकाश में ही घट जल की स्थिति है, किन्तु जल में परिच्छिन्न आकाश में भी सर्वव्यापक आकाश की स्थिति है। फिर भी जल में परिच्छिन्न आकाश में उपाधिरूप जड़ के धर्मत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है, किन्तु उसके अधिष्ठानभूत और उसके साथ वर्तमान व्यापक आकाश में उन धर्मों की प्रतीति नहीं होती। ठीक इसी तरह अन्तःकरण में आभास रूप से वर्तमान जीव में ही अल्पज्ञत्वादि धर्मों की प्रतीति हो सकती है न कि उसके अधिष्ठानभूत तथा उसके साथ व्यापक रूप से वर्तमान अन्तःकरणोपहित शुद्ध चैतन्य में। इसी लिये जीव के विषय में अवच्छिन्नवाद का परित्याग कर आभासवाद का शास्त्री ने स्वीकार किया गया है। अन्यथा जीव और शुद्धचैतन्य दोनों के अन्तःकरणघटाकाशावच्छिन्न होने से क्या कारण है कि जीव अन्तःकरण के दोषों से संकान्त होता है और शुद्धचैतन्य नहीं। यद्यपि अवच्छिन्नवाद में भी अन्तःकरण जीव का विशेषण है और शुद्धचैतन्य की उपाधि है, विशेषण के धर्मों की विशिष्ट में संक्रान्ति होती है और उपाधि के धर्मों की उपहित में नहीं, इस तरह जीव, ब्रह्म का परस्पर में भेद बतला दिया गया है, फिर भी अन्य कुछ दोष रह जाते हैं जिनका परिहार आभासवाद का स्वीकार करने पर ही हो सकता है, जैसे यदि अवच्छिन्न चैतन्य को ही जीव माना जाय तो घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य भी जीव क्यों नहीं कहलाता इत्यादि। आभास को आप मानने पर यह दोष

नहीं रहता क्योंकि घटादि में व्यापक चैतन्य के रहने पर भी सत्त्वप्रधान माया से निर्मित तमोमय घटादि में अस्वच्छता के कारण चैतन्य का आभास नहीं पड़ सकता और अन्तःकरण के सत्त्वप्रधान माया से निर्मित होने से उसमें शुद्ध चैतन्य का आभास बन सकता है। इस तरह प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थ अन्तःकरणादि में व्यापक चैतन्य और आभासचैतन्य दोनों की सत्ता सिद्ध होती है, और घटादि में केवल व्यापक चैतन्य की। इसी आभासचैतन्य की सत्ता के कारण प्राणधारणत्वादि धर्म उसमें बन जाते हैं और उसको जीव संज्ञा हो जाती है और घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को नहीं। इसीलिये वेदान्तदर्शन-कार भगवान् व्यास ने 'आभास एव च' वे० सू० अ० २ पा० ३, इस सूत्र में जीव के विषय में आभासवाद को ही सिद्धान्त माना है। जीव के विषय में इसी आभासवाद का निरूपण जीव और ब्रह्म का भेद बतलाते हुए निम्न साखियों में दादू जी ने भी किया है। जैसे—

जल में गगन गगन में जल है पुनि वह गगन निरालम्।
ब्रह्म जीव इहिं विधि रहै, ऐसा भेद विचारम्॥
ज्यों दर्पण में मुख देखिये पानी में प्रतिबिम्ब।
ऐसे आतमराम है, दादू सब ही संग॥

साखियों का अर्थ स्पष्ट है। प्रथम साखी में जल और आकाश के दृष्टान्त से जीव ब्रह्म के भेद का निरूपण किया है। उसका प्रकार ऊपर घटाकाश मठाकाश का विवेचन करते

हुए बतलाया गया है। दूसरी साखी में स्पष्टतया जीव को प्रतिबिम्बरूप सिद्ध किया है। प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद में कुछ किंचित भेद होने पर भी उन्हें यहाँ एक ही समझना चाहिए।

अन्तःकरणादि से अकल्पित शुद्ध चैतन्य जीव नहीं किन्तु उससे आभासित चैतन्य ही जीव है इसकी स्पष्ट झलक निम्न साखी में मिलती है—

जब दर्पन में मुख देखिये तब अपना मुख आप।
दर्पन बिन मुख नहीं दादू पुन्य रु पाप॥

यहाँ दर्पणादि के समान सकल्प सत्वगुणप्रधान अन्तःकरणादि में जब चैतन्य का आभास पड़ता है तभी पुन्य और पाप धर्म वाले जीव का स्वरूप बनता है, तथा दर्पणस्थानापन्न अन्तःकरणादि के अध्यास के बिना शुद्ध चैतन्य में पुन्य पाप का लेश भी नहीं है किन्तु उसके द्वारा ही है यह भी स्पष्ट कर दिया है।

यहाँ तक जीव के स्वरूप का तथा उसके स्वरूप को बतलाने के लिये आभासवाद का विवेचन किया। आभासवाद का विवेचन करते हुए अन्त की साखी में यह बतलाया है कि शुद्धचैतन्य में पुन्य पाप आदि कुछ भी धर्म नहीं है केवल उसमें अन्तःकरणादि के अध्यास के द्वारा ही प्रतीत होते हैं। अतः अब ब्रह्मतत्वावभास का निरूपण किया जाता है।

'अध्यास-निरूपण'

अविद्या के द्वारा शुद्धचैतन्य में अन्तःकरणादि का अध्यास होता है और उसी से जीव का स्वरूप निष्पन्न होता है, क्योंकि शुद्धचैतन्य में अध्यस्त अन्तःकरण से प्रतिबिम्बित चैतन्य को ही जीव संज्ञा है। जैसे शुक्ति या शाक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानमात्र से किया शुक्ति के अज्ञान द्वारा आरोपित शुक्ति के आवरण मात्र से शुक्ति में रजत की प्रतीति नहीं हो जाती है, किन्तु आवरण के बाद चाकचिक्यादि-धर्मादय द्वारा शुक्ति में रजत के विशेषरूप अध्यास की भी आवश्यकता होती है। इसी अध्यास के कारण शुक्ति में रजतज्ञान होता है। इसी प्रकार शुद्धचैतन्यरूप कूटस्थ के अज्ञान मात्र से या तत्त्वज्ञ आवरणमात्र से ही शुद्धचैतन्य में जीव की प्रतीति नहीं होती है किन्तु आवरण के बाद विशेषतया अज्ञात और सामान्यतया ज्ञात कूटस्थब्रह्म में अन्तःकरणावच्छिन्न या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के अध्यास की भी आवश्यकता है। यह अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अध्यस्त अन्तःकरणादि से अपने आपको अभिन्न समझने के कारण उसके धर्म अहंत्वादिक को भी अपने ही धर्म समझता है। इसीलिये यह अहंता का आश्रय व 'अहं' कहलाता है। यह अहंकार जो कि चैतन्य से जीव-भाव का सम्बन्धक है, वस्तुतः चैतन्य का धर्म नहीं किन्तु अन्तःकरण का धर्म है। केवल अध्यास के कारण ही उसमें उसकी प्रतीति हो रही है। क्योंकि अध्यास का यह स्वभाव ही है कि वह दूसरे के धर्मों

को दूसरे में प्रतीति कराता है, जैसा कि 'अन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुः' विवरणेऽपि। अ० दी० ३० काठ इस श्लोक से प्रतीत होता है।

जब तक इस अध्यास की निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक न ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है और न दुर्वैतज्ञान की ही निवृत्ति हो सकती है। क्योंकि प्रत्यगात्मा का प्रत्यक् ही ब्रह्म का प्रत्यक् है। यदि प्रत्यगात्मा से भिन्न अन्य नाम की कोई वस्तु होती तो उसका नोरूप, निर्धर्मक तथा स्वयंरूप से भिन्न वस्तु होने से कभी भी प्रत्यक् या साक्षात्कार न होता। किन्तु प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप होने से सब को सर्वदा प्रत्यक् है इसलिये स्वस्वरूप होने से अन्य का भी प्रत्यक् हो जाता है। अन्तर इतना ही है कि जीव में बद्ध पद से शुद्धचैतन्य का तथा आत्मा में बोध पद से आभासचैतन्य का ग्रहण होता है। जब प्रत्यगात्मा अपने आपको शुद्धचैतन्य समझता है तब उसके ब्रह्मरूप होने से उसका प्रत्यक् ही ब्रह्मसाक्षात्कार कहलाता है। और जब भ्रान्ति के दूवारा अपने आपको शुद्धचैतन्य न समझ कर भिन्नरूप में समझता है तब उसका प्रत्यक् होते हुए भी वह जीव का ही साक्षात्कार कहलाता है ब्रह्म का नहीं। अतः यह निश्चित है कि अध्यास की निवृत्ति के बिना ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं बन सकता। एवं अध्यास से ही जीव और ब्रह्म में भेद ज्ञान रूप दुर्वैतज्ञान की भी प्रतीति है। सारांशतः अध्यास की निवृत्ति का ही नाम दुर्वैतज्ञान की निवृत्ति कहा है। अध्यास का यही रूप तथा उसका निवृत्ति [illegible]

साक्षात्कार की निष्पत्ति वेदान्तशास्त्र में बतलाई गई है। दादू जी ने भी इसी अध्यास को ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रतिबन्धक बतलाया है तथा इसी के द्वारा द्वैतभाव की निष्पत्ति बतलाई है, जैसे—

मैं नांही तब एक है मैं आई तब दोय।
मैं मैं परदा मिट गया तब ज्यों था त्यों ही होय॥
जहां राम तहां मैं नहीं मैं तहां नहिं राम।
दादू महल बारीक है द्वै कूं नांही ठाम॥
दादू आपा जब लगै तब लग दूजा होय।
जब यहु आपा मिट गया, तब ज्यों था त्यों ही होय॥

यहां मैं तथा आपा पद के द्वारा कार्य कारण के अभेद सिद्धान्त के अनुसार अहंभाव के कारण अध्यास का ग्रहण है, और वस्तुतः यह अहंकार ही सर्वप्रथम अध्यास का रूप है। इसी लिये अष्टा...दासावधूत ने अहंकार को ही अध्यास बतलाया है, जैसे—

विकल्पमायारहिते चिदात्मके
अहङ्कार एव प्रथमः प्रकल्पितः।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे॥ अ. रा. उ. का.

पहिली साखी में अध्यासजन्य अहंभाव के द्वारा द्वैतभाव की निष्पत्ति बतलाई है। दूसरी से जब तक अध्यास है

तेन तक अविद्यमान होने के कारण जीव अपने शुद्धचैतन्य स्वरूप को, जिसको कि इस साधो में ब्रह्म पद से कहा गया है, नहीं पहिचान सकता यह बतलाया है।

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार अध्यास के दो भेद माने गये हैं—धर्माध्यास व धर्मी-अध्यास। इन दोनों का विस्तृत अध्यास-भाष्य में भाष्यकार ने किया है, उसका भी दिग्दर्शन इन पंक्तियों में मिलता है। आत्मा में अन्तःकरणादि धर्मों के अध्यास को धर्मी-अध्यास कहा जाता है और अंतःकरण के धर्म अहं-त्वादि के अध्यास को धर्माध्यास। यहाँ में पद से धर्मी-अध्यास समझना चाहिए, क्योंकि मैं पद से अहंत्व के आश्रय अंतः-करण का बोध होता है। पर्व 'आत्मा' पद से धर्माध्यास लेना चाहिए क्योंकि अहंत्वरूप आत्मा अन्तःकरण का धर्म है न कि अन्तःकरणरूप धर्मी।

जब तक यह अध्यासजनित आत्मा है तब तक दुःख को भी जानता है, अर्थात् जीव अपने आत्म को सहसे भिन्न (पृथक्) ही समझता है। और यह दुःखदर्शन या पृथक्त्वभय का कारण है। जैसा कि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति
य इह नानेव पश्यति' कः० उ०

इन श्रुतियों से स्पष्ट विदित होता है। इसी बात का दादू जी ने किस पदों में निरूपण किया है, ध्यान दीजिये—

दादू है को भय घणा, नाहीं को कछु नांहि ।
दादू नांहीं है रहु, सपने सांहिब मांहि ॥

इस तरह जीव-निरूपण के उपयोगी आभासवाद आदि विषयों का निरूपण करने के बाद जीवपकरण समाप्त किया जाता है ।

माया--निरूपण

जीवमीमांसा के बाद सहज यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर यह माया क्या वस्तु है जिसकी छाया पर जीव और ईश्वर की स्थिति अवलम्बित है । जिसकी सहायता से निर्गुण, सर्वधर्मातीत, निष्कल ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् बन कर सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति का कारण बन सका है । जिसने असत् को सत् रूप में दिखलाया है । अतः अब प्रसंग वश माया के स्वरूप का निर्धारण भी आवश्यक है ।

'मिमीते-इति माया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार असीम को ससीम तथा अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बनाने वाला वस्तु का नाम माया है । वस्तुतः है भी ऐसा ही, क्योंकि ब्रह्म आकाश की तरह निर्गुण, निर्धर्मक, तथा सर्वत्र व्यापक है, न वह ससीम है और न परिच्छिन्न ही । इस सर्वत्र व्यापक असीम ब्रह्म का जितना भाग माया के द्वारा ढँक जाता

है वह इस माया-रूप उपाधि के द्वारा अवीय हो जाता है और जैसे ही अवीय होता है वैसे ही वह परिच्छिन्न भी हो जाता है, जैसे आकाश अवीय होता हुआ भी घटादिरूप उपाधि के द्वारा घटादि परिमित आकाश अवीय व परिच्छिन्न हो जाता है।

युक्ति से यदि विचार करते हैं तो इस का लक्षण अनिर्वचनीय उहरता है। कालत्रय में बाध होने के कारण न तो इसको सत् ही कह सकते हैं और प्रतीयमान होने के कारण न इसको असत् या अवस्तु ही कह सकते हैं, सत् और असत् का परस्पर विरोध होने से सदसत् भी इसे नहीं कह सकते। अतः किसी भी प्रकार का निर्वचन न बन सकने के कारण यह अनिर्वचनीय कहलाती है और इसीलिये सदसद्विलक्षण भी कहलाती है। इसमें और भी विलक्षणता है। वह यह है कि जो आकाशादि अनादि है वह अनन्त भी है, जैसे ब्रह्म। तथा जो सान्त है वह आदि है, जैसे आधिभौतिक आध्यात्मिक पदार्थ। किन्तु इस माया में यह विलक्षणता है कि वह अनादि होते हुए भी सान्त है। सत्य होते हुए भी मिथ्यारूपिणी है। जगत् से असंसक्त को संसक्त कर दिखलाने वाली माया है। वह असत् की सदूरूप से प्रतीति कराती है तथा सत् को तिरोहित कर देती है। युक्ति द्वारा विचार करने पर यह लक्षण व तुच्छ सिद्ध होती है। शास्त्र इसका उपदेश स्वरूप ही अवलम्बन करते हैं, जैसे—

न सतो सा नासतो सा माया नैवोभयात्मिका ।
अनिर्वाच्या ततोऽसेया मिथ्याभूता सनातनी ॥
नासदासीदभावत्वाद्धी सदासीच्च बाधनात् । पं. द. चि. दी.
अस्य सत्यमसत्यस्य ज्ञातो दर्शयतस्तथा ।
प्रसारणाय सङ्कोचायथा चित्रपटस्तथा ॥ पं. द. चि. दी.
'तुच्छमिदं रूपमस्य'
'तदेतज्जडं मोहात्मकम्' न्. ता. ३०

यह अचिन्तनीयत्व भी माया का स्वरूप है। सूर्यमण्डल, शशिमण्डल आदि अनन्त मण्डल किससे पैदा हुए। निराकार आकाश में ये मण्डल किसके आश्रित हैं। चाहे से भी सूक्ष्म एक बीज किस प्रकार एक विशाल वटवृक्ष का स्वरूप धारण कर लेता है। रजवीर्य के संयोगमात्र से किस तरह नाना अवयवसंघातविशिष्ट लोकशरीर बन जाता है इत्यादि अनंत विचित्र घटनायें संसार में घटित हो रही हैं, जिनकी उपपत्ति बहुत तर्क लगाने पर भी मालूम नहीं पड़ती। अन्त में हैरान होकर इसी पर सन्तोष करना पड़ता है कि यह सब ईश्वर की माया है। यह एक लोकप्रसिद्ध बात है कि जब किसी वस्तु की विवेचना पर भी उपपत्ति मालूम नहीं होती तो उसे माया कह कर ही सन्तोष किया जाता है, क्योंकि माया अचिन्तनीय है। अतः इसे माया कह देने का अर्थ होता है कि इसे विचारने की आवश्यकता नहीं, यहां तर्क की बुद्धि की गति नहीं है। इसीलिये पञ्चदशी में माया के स्वरूप को

अनिर्वचनीय बतलाया है और इसमें सम्प्रदायिकों के वचन को प्रमाणरूप से उपन्यस्त किया है, जैसे—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत् खलु ॥
अचिन्त्यरचनाशक्तिर्योगे मायेति निश्चितम् ॥
(पं० दृ० चि० दी०)

माया अघटितघटनापटीयसी है। बाजीगर या ऐन्द्रजालिक की माया में इस उपर्युक्त सब बातों का हम सर्वदा प्रत्यक्ष अनुभव करते ही हैं इसी लिये वह मायावी और उसके कार्य माया कहलाते हैं क्योंकि वह असत् को कुछ देर के लिये सत् तथा असम्भव को सम्भव कर के दिखला देती है। किन्तु यह सब दार्शनिक तथा मिथ्या है। उसी प्रकार इस ईश्वरी माया को भी समझना चाहिये। अतएव ईश्वर को मायी तथा उसके कार्यों को माया कहा जाता है। जैसा कि—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
(श्वेताश्व० उ०)

इस श्रुति से स्पष्ट है।

माया का यही स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में भी उपलब्ध होता है—

उपजै विनशै गुण धरै यहु माया का रूप ।
'दादू' देखत थिर नहीं तिण ज्यों तिण धूप ॥

उत्पत्ति और विनाश माया का ही धर्म है। चैतन्य न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट ही होता है, यह नित्य है। चिदाभासरूप में जो उत्पत्ति और विनाश प्रतीत हो रहे हैं वे भी माया या मायिक उपाधि के ही धर्म हैं चैतन्य के नहीं। किन्तु माया सत्व, रज, तम इन गुणों से विशिष्ट होने से गुणात्मिका या गुणधारिणी है जब कि चैतन्य सर्वथा निर्गुण है। उत्तरार्ध में 'जिमि छाँही जिमि धूप' इस सर्वसाधारण दृष्टान्त के द्वारा माया के क्षणिकत्व का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है। साथ ही इस दृष्टान्त के द्वारा कभी उसकी सत् रूप से और कभी असत् रूप से प्रतीयमानता का भी उल्लेख है।

माया स्वयं असत् है। उसके द्वारा जिस वस्तु की उत्पत्ति प्रतीति होती है वह भी माया का कार्य होने से मिथ्या ही हुआ करती है सत्य की उत्पत्ति इससे हो ही नहीं सकती, सत्य का तो यह तिरोधान करती है इसका भी उल्लेख निम्न साखी में किया है—

जे नांहीं सो ऊपजै है सो उपज नांहि।
अलख आदि अनादि है उपजै माया मांहि॥

इस साखी में उत्तरार्द्ध के द्वारा माया की आपाततःपटना-पटीयसी शक्ति का भी उल्लेख किया है क्योंकि सर्वकारण और स्वयं अकारण चैतन्य भी मायाविशिष्ट होकर ईश्वर व जीव रूप से उत्पन्न होता हुआ प्रतीत हो रहा है। अनादि नित्य सत्य को उत्पन्न कर देना या उत्पत्तिभान की तरह दिखला देना असंभव को सम्भव कर दिखला देने वाली माया का ही कार्य है। इसी लिये पंचदशी में लिखा है कि—

कूटस्थासङ्गमात्मानं करोति जगदादिकम्।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे॥

अनादि निर्गुण चैतन्य के ब्रह्मा विष्णु शिव आदि रूप भी मायिक ही है। सत्वगुण प्रधान अंश के कारण मायिक ईश्वर विष्णु, रजोगुण की प्रधानता से ब्रह्मा तथा तमोगुण की प्रधानता से संहारकर्ता शिव कहलाता है। जैसा कि "अथयो ह वाव खलु वाव खल्व राजसोऽशः असौ सः योऽयं ब्रह्मा। अथ यो ह खलु वाव खल्व सात्विकोऽशः असौ सः योऽयं रुद्रः। अथ यो ह खलु वाव खल्व सात्विकोऽशः असौ सः योऽयं विष्णुरिति" मै० उ०, यह श्रुति कहती है।

इसी लिये दादूजी लिखते हैं कि—

"ब्रह्मा विष्णु महेस लौं, सुर नर डरकाया ॥"
"ब्रह्मा विष्णु महेस लौं, दादू बचै न कोय ॥"

माया ने ही अपनी मनोहर रचनाओं व स्वरूपों से सब को मोहित कर रक्खा है।

माया मैली गुणमयी घर घर डब्बल नाम।
दादू मोहे सबनि कूं सुरनर सब ही ठाम ॥

इस माया ही के कारण शुद्ध चैतन्यरूप जीव अपने समीप अधिष्ठानरूप से विद्यमान स्वस्वरूप कूटस्थ या अन्तर्यामी को भूला हुआ है इसी लिये गीता में भगवान् ने लिखा है कि—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ गीता,

निम्न लिखित साखी में इसी बात का उल्लेख है—

बाली चिहर रचाइ करि यहां अपरछन होय ।
माया पट पड़दा किया ताथें लखै न कोय ॥ माया०

जागत अवस्था में विद्यमान मायिक पदार्थों की असारता स्वप्नादि दृष्टान्तों द्वारा शास्त्रों में बतलाई है जैसा कि—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ मा. का.

इस कारिका से स्पष्ट है। इसी असारता का वर्णन इसी दृष्टान्त के द्वारा इन साखियों में भी उपलब्ध होता है—

स्वप्नैं सब कुछ देखिये जागैं तो कुछ नाहिं ।
ऐसा यहु संसार है समझि देखि मन मांहि ॥

जे नांही सो देखिये यहु सुपने मांहि ।
दादू झूठा है सपा जागै तो कुछ नाहिं ॥

यहु सब माया मृगजल झूठा झिलमिल होय ।
दादू बिनका देखि करि सति करि जाना सोइ ॥

इसी लिये उसका उपदेश है कि इन क्षणिक आपातरमणीय मायिक सुखों की इच्छा न करनी चाहिए किन्तु शाश्वतसिद्ध आत्म-सुख की प्राप्ति में ही मन लगाना चाहिए—

माया का सुख पंचदिन गर्व्यो कहां गँवार ।
सुपिनै पायो राजधन बात न लागी बार ॥

सुपिने जहा आनिया कीये भोग विलास।
आगत झूठा है गया ताकी कैसी आस।
नैनहु भरि नहिं देखिये सब माया का रूप।
तहँ ले नैना राखिये जहँ है तत्त अनूप॥

किन्तु इस माया की निवृत्ति आत्मज्ञान से अथवा उस परमात्मा की कृपा से ही हो सकती है अन्यथा नहीं। इसी लिये भगवान् ने गीता में स्पष्ट लिखा है कि जो मेरे को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् आत्मतत्व को पहिचान लेते हैं वे ही इस माया के पार जासकते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

दादूजी भी इस मायारूपी आवरण की निवृत्ति के लिये भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं:—

नाहीं प्रगट ह्वै रह्या है सो रह्या लुकाय।
संइया परदा दूरि करि तूं है परगट आय॥

इस तरह दादूजी ने माया का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। किन्तु हम जहां उनका दिग्दर्शन मात्र करा कर इस प्रकरण को यहीं समाप्त करते हैं और मन का निरूपण प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि यह मायारूपी द्वैतप्रपञ्च सब मनकी ही तो कल्पनामात्र है।

मनोनिरूपण--

जो कुछ भी संसार में मायाकल्पी द्वैत प्रतीत हो रहा है वह सब मनःकल्पित ही है। मनःकल्पित संसार के अतिरिक्त दृश्यमान ईश्वरीय जगत् न ज्ञान का प्रतिबन्धक है और न बन्धक ही है। केवल मनोजगत् ही बन्धमोक्ष का कारण बनता है। इसी लिये भगवान् गौड़पाद ने—

'मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते' मा. का.

इत्यादि वचन से स्पष्ट ही दृश्यमात्र को मनःकल्पित बतलाया है। अतः इस मायाकल्पी द्वैत की निवृत्ति के लिये तथा माया-निवर्तक ज्ञान की उत्पत्ति के लिये मन की नितान्त आवश्यकता है। मन की सहायता के बिना किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता इस बात में सभी दार्शनिकारों का ऐकमत्य है। अतः माया के बाद मनोद्वारा मन का निरूपण आवश्यक है।

"सङ्कल्पकं मनो विद्धि सङ्कल्पात्मक मिष्यते ॥"
(यो० वा०)

"उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ॥"
(सां० का०)

इत्यादि वचनों को देखने से सङ्कल्पविकल्पात्मक स्वरूप मन का सिद्ध होता है। सङ्कल्पधर्मवाला यह मन ही अपनी सङ्कल्पमयी सृष्टि के द्वारा बन्धनकारी बनता है। यह किस प्रकार

कहलाता है इसका प्रसङ्ग वश कुछ विवेचन आवश्यक होने से किया जाता है। पुरुष आसक्ति के द्वारा विषयों में बँधता है। आसक्ति अथवा वासना सौम्य मन के धर्म हैं। अतः आसक्ति के नाश के लिये प्रधानतया मनः संयम की आवश्यकता है न कि इन्द्रियों की। इसी लिये गीता में अनासक्त पुरुष का विश्लेषण करते हुए मनः संयम का ही उपदेश दिया है। मनःसंयम के बिना केवल इन्द्रियसंयम को पाखण्ड मात्र बतलाया है। जैसे—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता अ० ३)

इसी अभिप्राय से पञ्चदशी में विद्यारण्य स्वामी ने भी सृष्टि के ईशसृष्टि तथा जीवसृष्टि भेद से दो भेद बतला कर मनः सङ्कल्पात्मिका जीवसृष्टि को ही बन्धनकारी सिद्ध किया है न कि प्रत्यक्ष दृश्यमान ईशसृष्टि को। स्वप्न में बाह्य विषयों के न होने पर भी केवल मानसी अर्थात् मनःकल्पित वस्तुएं बन्धन का कारण बन जाती हैं, एवं समाधि गाढ़निद्रा तथा मूर्च्छा में बाह्य सृष्टि के होने पर भी मानसी सृष्टि के अभाव से ये बन्धन का कारण नहीं बनतीं।

दूसरी बात यह है कि विषयों में अनुचित ज्ञान के बिना नहीं हो सकती, कि वा अज्ञात विषय बन्धन के कारण नहीं हो सकते। अतः ज्ञात विषय अथवा विषय-ज्ञान ही संस्कार द्वारा बन्धन के कारण बनते हैं। जैसा कि—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्यं भवेत्कर्म तदेतत्कृतमुच्यते ॥

इस वचन से सिद्ध होता है, और ज्ञान मन के बिना केवल इन्द्रियों से हो नहीं सकता, यह सर्वसम्मत दर्शनसिद्धान्त है। इसी बात की पुष्टि 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्' अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्। नहि प्रज्ञपिता वाङ्नाम किञ्चन प्रज्ञपयेदन्यत्र मे मनोऽभूत्। छां० उ०। इत्यादि श्रौत वचनों से हो रही है। इसलिये मन ही ज्ञान द्वारा विषयों में प्रवृत्ति कराकर बन्धन का कारण बनता है। किं च विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति बिना मन के नहीं हो सकती। इन्द्रियां मन का उसी प्रकार से अनुगमन करती हैं जिस प्रकार मधुनिःसृता मधुकरराज का अनुसरण करती हैं। यह बात बोजबृन्दि, प्रश्नोपनिषद् आदि में स्पष्ट है। इसीलिये रामायण में सुन्दरकाण्ड में महर्षि वाल्मीकि ने मन को इन्द्रिय प्रवर्तक सिद्ध किया है। जैसे—

"मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ।
शुभाशुभासुवक्थासु ॥"

वा० रा० सु० का०

इस तरह किसी भी दृष्टि से विचार करने पर किया जाय मन ही आसक्ति, संस्कार व ज्ञान व प्रवृत्ति द्वारा बन्धन का कारण बनता है। एवं वही मन अन्तर्मुख होने पर विषयों से हट जाने से स्थिर हो कर मोक्ष का कारण बन जाता है। इसीलिये मुक्तिकोपनिषद् में यह स्पष्ट लिखा है कि देह जीवात्मा इन्द्रियां व प्राण आदि कोई भी बन्धन के कारण नहीं किन्तु केवल मन ही बन्ध व मोक्ष का कारण है। जैसे—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप ।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥
(मु० उ०)

इसी बात का विवेचन दादू जी ने किस प्रकार से निम्न पंक्तियों में किया है, ध्यान दीजिये—

मन ही माया ऊपजै मन ही माया जाय ।
मन ही राता राम सौं मन ही रह्या समाय ॥
मन ही मरणा ऊपजै मन ही मरण्या खाय ।
मन अविनाशी ह्वै रह्या मांहि बसी ल्यौ लाय ॥
मन ही सौं मल ऊपजै मन ही सौं मल धोय ।
मीमां चले गुरु साध की तो तूं निर्मल होय ॥

शास्त्रों में बन्धमोक्ष से मन के दो भेद किये हैं । १ बद्ध २ मुक्त । विषयों में आसक्त मन विषयजन्य वासना से युक्त होने से वासनायुक्त कहलाता है तथा विषयों में अनासक्त मन वासना रहित होने से निर्वासन कहलाता है । वासनायुक्त मन को बन्धन का कारण होने से बद्ध तथा अशुद्ध कहते हैं और वासना रहित मन को मुक्ति का कारण होने से मुक्त तथा शुद्ध कहते हैं । मन की इन दो अवस्थाओं का वर्णन उपनिषदों में स्पष्ट मिलता है—

तस्माद् वासनया शुद्धं मनो बद्धं विदुर्बुधाः ।
सम्यग् वासनया त्यक्तं शुद्धमित्यभिधीयते ॥

जिसकी सुरति जहां रहै तिसका तहां विश्राम ।
भावै माया मोह मे भावै आतम राम ।
जहां मन तामैं जीवता मरता तिस घर जाय ।
दादू बासा प्राण का जहां पहिली रहा समाय ॥
जप तप करणी कर गया स्वर्ग पहूंते जाय ।
दादू मन की वासना नरक पड़े फिर आय ॥
मन मनसा का भाव है अंत फलगा सोय ।
जहां सुरति तहां जीव है जीवण मरण तिस ठौर ॥

इन का अर्थ स्पष्ट है ।

जीवनिरूपण में यह बात स्पष्ट करदी गई है कि जीव अपना शुद्धचैतन्य रूप होने से अविनाशी है । वह जन्म मरण से रहित है । उसमें उपाधि के कारण ही जन्म मृत्यु प्रतीत होते हैं । वह उपाधि लिङ्ग परिमाणवाला मन अर्थात् अन्तःकरण ही है । मन स्वयं धर्मी है ; वह प्रतिक्षण कल्पना करता रहता है । मन पर ही शुद्ध-चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको जीव संज्ञा है । मन जिस धर्म से विशिष्ट होता है और उसका जैसा स्वरूप होता है उस पर प्रतिबिम्बित चैतन्य भी उसी धर्म से विशिष्ट तथा उसी आकार का प्रतीत होता है, जैसे नील तथा चतुष्कोण दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रकाश भी नीला तथा चतुष्कोण ही प्रतीत होता है । अतः यदि मन सत्वगुणविशिष्ट है तो मन पर प्रतिबिम्बित चैतन्य भी सत्व-गुणवाला है । एवं मन यदि रजोगुण से युक्त तथा दुःखी है तो

जीव भी रजोगुण से युक्त अत्यन्त दुःखी प्रतीत होता है। मन में यदि सुखी वासनायें हैं तो जीव भी सुख ही अनुभव करेगा। मन यदि स्वर्गोपभोग से युक्त है तो जीव भी स्वर्गी तथा सुखी ही होगा। जैसी मन में वासनायें या गुण होंगे वैसा ही मन होगा और वैसा ही उस पर प्रतिबिम्बित जीव होगा जानना। यह भी पहले बतलाया जा चुका है कि मन संकल्पात्मकमोला है। उसमें प्रतिक्षण नये नये संकल्प बनते बिगड़ते रहते हैं उनसे मन का जन्म व नाश होता रहता है। मन के जन्म और नाश के द्वारा उस पर प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव का भी जन्म और नाश होता है। ये ही मन के और तद्द्वारा जीव के अनन्त सूक्ष्म जन्म कहलाते हैं। इसी बात को योगवाशिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ ने भी प्रमाणित किया है—

'मनो यदनुभवति तदेवाप्नोति तत् क्षणात्।
यद्येतद् भावयेत् नित्यं तथैव भवति क्षणात्॥
'सत्य'कल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत्॥'
संकल्पयति संकल्पैस्तथैव भवति क्षणात्॥
(यो० वा०)

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद् भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम्॥
(भा० स्कं० ११ अ० ६)

यही जीव की मानसी या सूक्ष्म सृष्टि है। दादूजी ने 'सूक्ष्म जन्म' नामक अङ्ग में इसी बात का निरूपण किया है—

यादू जैसे शुद्ध [illegible]
अविनाशी [illegible]
सब शुद्ध [illegible]
घट मांहे जीव [illegible]
[illegible]
चौरासी लक्ष [illegible]
निज [illegible]
दादू सत [illegible]

उक्त दोनों साखियों में शुद्धव्याप्ति के द्वारा अविच्छिन्न जन्म जीव का बतलाया है। उन्हीं की मतानुसार जीव शुद्धचैतन्यरूप होने से निर्गुण है अतः स्वभावतः उसमें गुणव्याप्ति नहीं हो सकती किन्तु वह गुणव्याप्ति मनरूप उपाधि के द्वारा ही है यह भाव व्यक्त की है।

जीव की पवित्रता व अपवित्रता, शुद्धता व अशुद्धता तथा उत्कर्ष व अपकर्ष मन की भावना पर ही आश्रित है इसीलिये दादू जी ने स्पष्ट लिखा है कि देह की पवित्रता से कुछ नहीं चलेगा, जीव की शुद्धता के लिये मन की शुद्धता की आवश्यकता है—

दादू देह अपार [illegible]
[illegible]

उपर्युक्त रीति से मनरूप वासनायुक्त होकर जन्मान्तर

लोकान्तर के अन्य का कारण बन जाता है तथा वही आसक्तिरहित होने से मुक्तिमार्ग में सहायक [illegible] बन जाता है। अतः मन को आसक्तिरहित करने के लिये तथा उसे अन्तर्मुख करने के लिये बाह्य विषयों से मन के निरोध की परम-आवश्यकता है। आचार्य ने भी जीव द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार की निवृत्ति का उपाय मनोनिरोध को ही बतलाया है—

अखिलमानोऽप्यदभाति कि कृतो,
धनातुधिया स्वप्नमनोरथो यथा।
सनष्ट[illegible] [illegible]ऽखिलं मनो,
मुधा किमन्यान्यधते तपः क्यान् ॥

(आत्म० श्लोक ६६ अ० ६)

पूर्वोक्त [illegible] मनोनिरोध का उपदेश [illegible] है। [illegible] को प्रतिपादन किया गया है। [illegible] वो. ब., [illegible] भी [illegible] का [illegible] ही योग है जैसे [illegible] है। यहाँ [illegible] का मुख्य विषय है। [illegible] वेदान्तदर्शन में भी [illegible] मनोनिरोध को प्रथम साधन [illegible] 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्' [illegible] में आत्मविवेचन से स्पष्ट है। मनोनिरोध भी ही [illegible] है। पूर्व

मीमांसा में प्रत्येक यज्ञ में यज्ञसाधनीभूत चार ऋत्विजों में वेदत्रयी के ज्ञाता ब्रह्मा का स्थान मुख्य है और वह मूक चाप बैठा हुआ मनोनिवेश के द्वारा सारे यज्ञ की निगरानी करता है तथा कहीं खराबी हो जाने पर प्रायश्चित्तविधिद्वारा उसका संशोधन करता है। जैसा कि निम्नलिखित ऋचा से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है:—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्,
गायत्रं त्वो गायति शकरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां,
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

इस मन्त्र में 'जातविद्याम्' इस पद का, यज्ञ में कुछ खराबी (अर्थात् प्रायश्चित्तयोग्य कर्म हो जाने पर प्रायश्चित्त विधान बतलाना, यही अर्थ है, इसीलिये दुर्गाचार्य ने 'ब्रह्मा नाम एक ऋत्विक् जातं प्रायश्चित्तं विद्यां वदति' यह लिखा है। और यह प्रायश्चित्त विधि सर्ववेत्ता (तीनों वेदों के जानकार) के बिना बन नहीं सकती। अतः ब्रह्मा को सर्ववित् व त्रैविद्य भी बतलाया गया है इसीलिये भगवान् यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये "ब्रह्मा सर्ववित्: सर्वं वेदितुमर्हति" ऐसा लिखा है।

न खलु गवीश्वः अविज्ञानमन्यविधो यस्यावधिकारी त्रयीविद्यासंयुक्तो यस्मात् सर्वमेव वेदितुमर्हति, न असर्ववित् तमधिकारं शक्तुयाज्ञिवेदयितुम्।

(ऋ० भ्या०)

इस न्यायसूत्र के द्वारा वृत्तीचार्य ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

इस कार्य के लिये श्रद्धा का अस्तित्व होना आवश्यक है इसी लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण में "श्रद्धा वै देवा यजमाना हविष्मती" इत्यादि प्रतिपादन किया है। परन्तु इस सारे कार्य को श्रद्धा मनोनियोग द्वारा सम्पन्न करता है, किंच अध्यात्म में मन ही श्रद्धा है इसी लिये 'मनो वै श्रद्धा' ऐसा श्रुति बतला रही है। सारांश यह है कि ऋत्विजों में शरीरप्रधान श्रद्धा भी मनोमय है किंवा मनोनियोग द्वारा श्रद्धा कार्य करता है। अतः इस पूर्व मीमांसा में भी मनोनियोग की ही प्रधानता है और मनोनियोग के लिये मनोनिरोध की आवश्यकता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी षोडशपदार्थज्ञान व तत्त्वपदार्थज्ञान के द्वारा दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष बतलाई गई है। इस मोक्ष का साधनभूत ज्ञान बिना मनोनिरोध के उत्पन्न हो ही नहीं सकता अतः मनोनिरोध की आवश्यकता है। किंच सांख्यमतानुसार भी मुक्ति, प्रकृतिपुरुष के विवेक ज्ञान पर निर्भर रहने से, मनोनिरोध पर ही अवलंबित है क्योंकि मनोनिरोध के बिना विवेक या विचार अनुपपन्न है। अतः मनोनिरोध की आवश्यकता सभी शास्त्रकारों को अभिमत है। यह किन उपायों से हो सकता है इस का भी विस्तृत शास्त्रों में जहां तहां किया गया है। उनमें से मुख्य युक्तियां ये हैं सत्पुरुषों का सङ्ग, अभ्यास, वासनाओं का त्याग, विषयों से विरक्ति (वैराग्य) तथा हरिभजन व आत्मचिन्तन। योगवासिष्ठ में भी इन का उल्लेख मिलता है। जैसे—

१ अंकुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम्
न शक्यते मनो जेतुं तथा युक्तिमतिं विना ॥
शास्त्रावासविद्याधिगमः साधुसङ्गस्तपो यज्ञः ।
मानसानामवरोधायाः प्राक्तनशब्दो विनायकम् ॥
एतान्याः सूक्तयः पुष्टाः सन्ति हि मनसो दृढम् ॥

अर्थात् अंकुश के बिना दुष्ट हाथी की तरह युक्तियों के बिना मन को वश में करना अति कठिन है। अतः ये युक्तियां मनरूप वासनाक्षय विधान करती हैं।

मनोनिरोध के लिये ये ही युक्तियां ग्रन्थ भी दे रही हैं। इनका हम उदाहरणों के संग्रह के साथ प्रत्येक का क्रमशः उल्लेख करेंगे।

अभ्यास

शास्त्रकारों ने मनोविजय के लिये अभ्यास का सर्वतः प्रथम उपदेश किया है जैसा कि—

'शास्त्रावासैरभ्यासैर्यां नश्चिरोधः ।
(यो० द० व्या० अ० ८)

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।
(गीता अ० ६)

इत्यादि श्रुतिस्मृतियां बतला रही हैं। स्वरूपस्थिति के लिये अर्थात् आत्मतत्त्व में मन को ठहराने के लिये शास्त्रज्ञ और ज्ञानाभ्यासयुक्त प्रयास ही अभ्यास है। योगदर्शन और गीता में अभ्यास का यही लक्षण बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

(यो० द० अ० १)

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।

(गीता अ० ६)

दादू जी ने भी मनोनिग्रह के उपाय अभ्यास का यही स्वरूप बतलाया है, जैसे—

जहाँ थैं मन उठि चलै फेरि तहाँ ही राखि
सहजै सहज दादू लीन करि साधू कहैं इक साखि ।
जे सुख माहैं बोलतां अरगहु सुणतां आइ
नैनहु माहैं देखतां सो अन्तर दरसाइ ।
सोई छल जे मन गहै निमिष न चलनैं देइ
जब ही दादू पग भरै तब ही पारखि लेइ ।

दूसरी साखी में 'जो' और 'सो' पद अति अंतरंग के भी द्योतक हैं ।

विषयविरक्ति (वैराग्य)

ऐहलौकिक व पारलौकिक विषयों में दोषदर्शन द्वारा उनसे उपरति ही जाना ही वैराग्य है। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"

इस सूत्र के द्वारा वैराग्य का यही अर्थ बतलाया है। यह वैराग्य

श्री मनोनिरोध का उपाय है। इसीलिये महर्षि वसिष्ठ ने मनोनिग्रह के लिये विषयों में अनास्थारूप वैराग्य का उपदेश दिया है—

विषयानु प्रति मा पुत्र ! सर्वानेव हि सर्वथा ।
अनास्था परमा ज्ञेया सा मुक्तिर्मनसो जये ॥

(यो० वा०)

दादूजी ने भी निम्न साखियों में इसी विषयनिरपेक्षरूप वैराग्य का उपदेश किया है—

दादू विषय विकार सौं जब लग मन राता ।
तब लग चित्त न आवई त्रिभुवनपति दाता ॥
कहा हमारा मानि मन पापी परिहरि काम ।
विषया का संग छाँडि दे दादू कहिये राम ॥

वासनापरित्याग

विषयों से इन्द्रियों व मन को हटाने पर भी, विषयभोग द्वारा मन में संस्कार रूप से वर्तमान जो वासना है उसको जब तक दूर न करेंगे तब तक मनोनिग्रह नहीं हो सकता। इस लिये वासनाओं का परित्याग भी आवश्यक है। इसी लिये योगवासिष्ठ में वासनापरित्याग का उपदेश दिया है—

या यादृशि मनोनाम्नी वासना वासिताऽन्तरा ।
तां तां परिहरेत् प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ।

गीता में इसी अनासक्ति को विषयों का रस बतलाया है। क्योंकि जैसे खाने के बाद अन्न का जो सारभाग है वह रस रूप में परिणत होता है ठीक उसी प्रकार विषय भोग से जो जो संस्कार बनते हैं वे ही बन्धन करने वाले व विषय भोगों के पुनः प्रवृत्त करने वाले विषयों के सार भाग हैं। अतः उन्हें रस कहा जाता है।

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(गी० अ० २)

पञ्चदशी में भी तृप्तिपक्ष द्वारा इसी वासनापरित्याग को बतलाया है, जैसे—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा तृप्तिक्षयाद्धिं स्वयोनावुपशाम्यति॥
(पं०द०)

दादू जी ने भी इसी तृप्तिपक्ष व वासनात्याग का मनोनिग्रह के लिये उपदेश दिया है—

जैसो खाइरि समन्द को ते ते मनहि मनोरथ सार।
ऐसे सब मन्तोष करि गहि आतम एक विचार॥

साधुसङ्ग

साधुसङ्गति भी मनोनिग्रह का अत्युत्तम उपाय है। योगवासिष्ठ और भागवतादि में इसका उल्लेख मिलता है। जैसे—

शान्तिसन्तोषधैर्येण विज्ञानेनात्मसंयमैः ।
विन्दन्ति स्वमात्मानं ते वै तस्मिन् मनो दुधुः ॥

(सो० ८ अ० ८)

दादू जी की निम्न साखियों में भी इसी का उपदेश है—

चञ्चल चहूँ दिस जात है गुरुबाइक सों बंध ।
दादू सेवति साध को पारब्रह्म सों संधि ॥
साधु शब्द सों मिलि रहै मन राखै बिलमाय ।
साधु शब्द बिन क्यों रहै तब ही बीखर जाय ॥
एक निरञ्जन राम सों साधू संगति माँहि ।
दादू मन बिलमाइये दूजा कोई नाँहि ॥

हरिस्मरण व कीर्तन

हरि के गुणानुवाद व हरिस्मरण के द्वारा भी मन का निग्रह किया जा सकता है। भागवत में मन के निग्रह के लिये हरि के गुणों का कीर्तन बतलाया है—

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृतौ,
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरेः,
गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥

(भा० ६ । २ । २२)

इसी तरह से भगवत्स्मरण से मन का निग्रह भागवत में—

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ।

(भा० ११ । १४ । ३५)

इस श्लोक के द्वारा बतलाया है। भगवान् को स्मरण करने से चित्त भगवद्रूप वस्तुतत्त्व में निमग्न हो जाता है। यही चित्त की एकाग्रता चित्त का निरोध है। व्यास जी की निम्न साक्षियों में इन्हीं उपायों की अभिव्यक्ति है—

'वृत्तिं सुमिरया सो हेतु [illegible] निरोधन भए ॥'

'मन निरोध नव द्वारा द्वार [illegible] पुरुष भास ॥'

पहली साक्षी में स्मरण तथा दूसरी में गुणानुवादरूप उपाय का वर्णन किया है। आठ विषयों से मन को हटा कर निरन्तर आत्मतत्त्व का चिन्तन भी मन के निरोध का उपाय है। जैसा कि—

"चित्तं तदर्थाकृत्याकृत्यात्मिकेति योगपदः ॥"

इस योगसूत्रस्थित को उचित से भावना होता है। यही शुद्ध चित्त निरोध का भी द्योतक है। क्योंकि जब तक मनका निरोध न होगा तब तक मन विषयों में भटकता रहेगा और जब तक विषयों में भटकता रहेगा तब तक मन की शुद्धि की सम्भावना नहीं। यही बात—

"इत्यप्रतिषेधार्थं [illegible] ॥"

योग० द० अ० १

इस योग सूत्र में बतलाई गई है। निरन्तर एक तत्त्व का

चिन्तन करते रहने से मन उसी में एकाग्र हो जाता है। इसी लिये दादू जी ने अन्तरात्मा में मन को लगा देने को भी मन के निग्रह का उपाय बतलाया है—

अब अन्तर उरझा एक सौं तब बाकी सकल उपाय।
दादू निहचल हिर भया तब अनत कहीं न जाय॥

यह उपाय अधिकांशतः हरिस्मरणरूप उपाय से मिलता हुआ है, जिसका कि हम पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं। किन्तु फिर भी सामान्य भेद को ध्यान में रख कर इस का पृथक् वर्णन कर दिया है।

यहाँ तक हमने दादू जी की वाणी का वेदान्तदर्शन से समन्वय बतलाया। यद्यपि 'मनोनिरूपण' व 'ईश्वरनिरूपण' में अकरणत्वअवधारण शब्दसम्भारों का भी सामान्यतः समन्वय आगया है किन्तु वह गौण व प्रासङ्गिक है। प्रधानरूप से अभीसक वेदान्त दर्शन का ही समन्वय बतलाया गया है। अनुवाद में ही मनोनिरोध के उपायों का वर्णन किया है। मनोनिरोध योगदर्शन का मुख्य विषय है। अतः इसी प्रसङ्ग में योगदर्शन का समन्वय वाणी के साथ बतलाना ठीक उचित है।



धारणा ध्यान व समाधि

हम पहले बतला चुके हैं कि मनोनिग्रह योगदर्शन का प्रधान विषय है। मन के निग्रह का नाम ही योग है। श्रीमद्भागवत में मन के निग्रह का नाम ही योग बतलाया है, जैसे—

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।

(भा० ११।२०।३१)

किन्तु योगदर्शन के अनुसार मन को वश में करने के उपाय उपर्युक्त उपायों से भिन्न हैं। उपर्युक्त उपायों में अभ्यास वैराग्य व आत्मचिन्तन ही ऐसे उपाय हैं जो योगदर्शन में निरूपित हैं। योगदर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये ८ अङ्ग योग के बतलाये हैं। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग तथा राजयोग इन चारों प्रकार के योगों में इन आठों अङ्गों का अन्तिभाव समावेश है। चारों प्रकार के योगों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर श्रेष्ठ व उत्कृष्ट है। इस दृष्टि से आदि के तीनों योग राजयोग की सिद्धि के उपाय बतलाये हैं। इसी लिये यह लिखा है कि—

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालदर्शकः ॥

इसीलिये साधनभूत अन्य योगों के द्वारा ध्यान के प्राप्य होने से है—

'राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इतिस्मृतः ।'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह राजयोग कहलाता है। राजयोग में धारणा ध्यान व समाधि द्वारा मन को एकाग्र कर अमनस्कावस्था बढ़ाई जाती है, और इसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करना इसका मुख्य लक्ष्य है। लययोग में मन का लय आत्मा में किया जाता है। आत्मा में मन का लय करने से आत्मा और मन का एक हो जाना अर्थात् मन का आत्म-स्वरूप हो जाना ही चरम ध्येय है। यही लययोग का अन्तिम साधन समाधि है। इसमें मन से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं की प्रधानता रहती है। लययोग में आसनाभ्यास की तथा आवश्यक व हठयुक्त नियमों की प्रधानता होती है। इसमें वायु से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं की प्रधानता है। एवं प्रारम्भिक लययोग में मूर्ति की पूजा हुआ करती है। इसमें भूतों की प्रधानता है। दिव्य नाम और दिव्य रूपों की साधनविधि इसमें बतलाई गई है।

इन योगों में आत्मचिन्तनप्रधान महात्माओं के उपयोगी तो ही योग हो सकते हैं लययोग व राजयोग। आत्मचिन्तन (आत्म-साक्षात्कार) के लिये पहिले मन के लय की आवश्यकता है अतः

मन के निरोध के लिये चित्तलयकारी लययोग की आवश्यकता है तथा मन का ज्ञाता में लय होने के बाद ध्यान व समाधि द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने के लिये उसके साथ राजयोग की आवश्यकता है। दादू जी की साखी में प्रायः इन्हीं दो योगों की उपलब्धि होती है, लययोग का निरूपण हमें सब के अङ्ग में मिलता है जैसे—

सब मूल तजि आधार के निहचल मन क्यों लाइ।
आत्म चेतन ज्ञान में दादू रहै समाइ॥
तन मन पवना पंच गहि निर्जन क्यों लाइ।
अहै अतीता तहँ परमातमा दादू सहजि समाइ॥
पर आतम सौं आतमा क्यों जल उदक समान।
तन मन पंखी छीव क्यों पावै पद निरवान॥

इन साखियों में आत्मा को मन में लीन करने का ही उपदेश है। यहाँ आतम शब्द मन से अवच्छिन्न जीवात्मा का वाचक है किन्तु जीवात्मा में जीवत्व के मन उपाधि के द्वारा होने से मन भी लिया जा सकता है। तीसरी साखी में "जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध चैतन्य रूप होने से वस्तुतः एक हैं। इनमें केवल संज्ञा मात्र का भेद उपाधि के द्वारा बन जाता है, जैसे—जल और उदक के एक होने पर भी संज्ञामात्र का भेद कर रखा है, इस बात का भान समाधि दशामें हो जाता है," यह बात 'पर आतम सौं आतमा क्यों जल उदक समान' इसके द्वारा दिखाई है। और उत्तरार्द्ध में जीवात्मा और परमात्मा की भेद उपाधियों मन

आदि भी समाधि अवस्था में आत्मा में लीन हो कर आत्मरूप बन जाती है जैसे लवण जल में मिल कर जलरूप हो जाता है। इस तरह भेदक उपाधि मन के आत्मा में लीन होकर आत्मरूप होने से जीवात्मा और परमात्मा की एकतारूप निर्वाण की सहज ही प्राप्ति हो जाती है इसी बात का "मन मान पाणी लीण ज्यों पावे पद निर्वाण" इसके द्वारा वर्णन किया है। इस तरह अन्तिम साखी में लययोग के अन्तिम साधन समाधि का बहुत स्पष्ट व सुन्दर वर्णन है।

लययोग के अन्तिम साधन समाधि का यही वर्णन योगशास्त्र में भी मिलता है—

सलिले सैंधवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥

यही ध्यान, ध्यान, निदिध्यासन आदि शब्दों से भी शास्त्रों में व्यवहृत हुआ है। महात्माओं की वाणी में इसका 'सुरति' व 'लयी' पद से अधिक व्यवहार किया है। आत्मा में जो मन का लय है उसी के विषयक अभ्यास को ध्यान कहते हैं। इसी लिये योगदर्शन में—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' यो० द० ३ पा० में यही ध्यान का लक्षण किया है। मन का प्रत्यगात्मा में लय करने से मन प्रत्यगात्मरूप हो जाता है जैसा कि अभी ऊपर बतला चुके हैं। इस समय मन के आत्मरूप हो जाने से—'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूं ऐसी वृत्ति बन जाती है, इसी के

अविच्छिन्न प्रवाह का नाम ध्यान है। यही वेदान्तियों का निदिध्यासन है—

लक्ष्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥
(पञ्चदशी ५४)

दादू जी के लय व सुरति इसी प्रकार के हैं। अतः इनको ध्यान व निदिध्यासन कहने में कुछ भी हिचकिचाहट नहीं है—

ऐसे लागो तत्व जाणिये जे कबहूं छूटि न जाय।
जीवत यों लागो रहै मूवा मंझि समाय ॥

इस साखी के देखने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मा में मन को लगा देना रूप जो धारणा है वही लय नहीं है किन्तु उसके अविच्छिन्न वृत्तिरूप ध्यान का नाम भी लय है। उपर्युक्त धारणा और ध्यान रूप अष्टयोग राजयोग का अङ्ग है। राजयोग धारणा और ध्यान से शुरू होता है उसका मुख्य साधन समाधि है। जैसा कि—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः ॥

इस योगशास्त्र की उक्ति से प्रतीत होता है। सविकल्प सविचार आदि भेद से भिन्न सविकल्प समाधि तथा निर्विकल्प

समाधि ही मुख्यतया राजयोग है। यही राजयोग सहज, समाधि, सहजयोग तथा सहजावस्था भी कहलाता है। दादू जी ने भी इस का सहज योग तथा समाधि पदों से व्यवहार किया है। जैसे—

'जोग समाधि सुख सुरति सौं सहजैं सहजैं आव।'
'सहज जोग सुख मैं रहै दादू निर्गुण ज्ञानी ॥'

प्रथम साखी में समाधि द्वारा ब्रह्म-साक्षात्काररूप मुक्ति की प्राप्ति होती है, अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार उसका फल है यह राजयोग का विषय भी बतला दिया गया है। यही अन्तर्मुखी वृत्ति है। इस के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह उपनिषत्-प्रतिपादित सिद्धान्त है। जैसा कि—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू—
तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठ ४)

इस श्रुति से प्रमाणित हो रहा है। दादूजी ने भी समाधि-रूप अन्तर्मुखवृत्ति द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार बतलाया है—

जहाँ जगत गुरु रहत है तहां जे सुरति समाय।
तौ इनही नैननि उलटि करि कौतिग देखे आय॥

इसीलिये वे लय, ध्यान व समाधिरूप अन्तर्मुखी वृत्ति करने का उपदेश कर रहे हैं—

सुरति अधूठि केरि लहि आतम माँहैं आन ।
लागि रहै गुरु देव सौं दादू सोइ सयान ॥
जोइ आतम तहाँ राम है सकल रह्या भरपूर ।
अन्तर गति ल्यौ लाइ रहु दादू सेवग सूर ॥
सहजैं सुरति सँवार ले पारब्रह्म के अंग ।
दादू परगट मिलि रह्या इनहद बहिवा संग ॥

यहां इतना और ध्यान में रखना चाहिये कि उपर्युक्त रीति के अनुसार धारणा ध्यान व सविकल्प समाधि में बहुत थोड़ा अन्तर है इसलिये महात्माओं की वाणी में इनका परस्पर मिला हुआ रूप ही मिलता है। किसी भी विषयवृत्ति को हटा कर आत्मा में उसको अविच्छिन्नरूप से लगा देना तथा उसका ही चिन्तन करना यह सामान्य स्वरूप तीनों में व्यापक है। अतः वे ध्यान, समाधि व धारणा इन सब के ध्यान में ल्यौ, सुरति, अन्तरगति आदि शब्दों का प्रयोग, बिना किसी भेद के कर लेते हैं। दादू जी की वाणी में भी ऐसा ही है। विषयवृत्ति विष के भेद के द्वारा अवश्य इनमें भेद किया जा सकता है और उस भेद को हम ऊपर लक्षणरूप धारणा व ध्यान के उदाहरणों द्वारा बतला चुके हैं। समाधि का भेद भी निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट है। जैसे—

तन मन अपना हाथि करि तादीसौं क्यौं लाइ ।
दादू निरंजन राम सौं ज्यौं जल जलहि समाइ ॥

अर्थात् आत्मा का परमात्मा में लय जहाँ तक होता है जिससे जीव निर्गुण शुद्धचैतन्यरूप आत्म में इस प्रकार मिल जाय जैसे जल, जल में मिल जाता है, अर्थात् एक हो जाय। यह जीव और परमात्मा का मिलन समाधि अवस्था ही है। समाधि के बिना जीव और परमात्मा का ऐक्य रूप मिलन नहीं हो सकता। समाधि दशा में केवल ध्येयाकारवृत्ति ही शेष रहती है। अतः भेद न होने से मिलन सम्भव है। जैसा कि "तदेवार्थमात्र-निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" यो० द० पा० ३। यह योगसूत्र बतला रहा है। पञ्चदशी में भी समाधि का यही लक्षण बतलाया है—

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निर्वातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥

(पं० द० ८)

समाधि का यही लिखा हुआ रूप होने की स्थितियों में हमें देखने को मिलता है—

जब मन मुवक है नहँ इन्द्रिय बल भागा ।
काया के सब दृश्य तजे निर्जन लागा ॥
आदि अंति मधि एक रस टूटे नहि धागा ।
दादू एकै मिल गया सब जाणी जागा ॥





त्रिवेणी-स्नान

अमृतबिन्दूपनिषद् में—

इडायां चैकया हृदयस्थ नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्यया उत्क्रमणे भवन्ति ॥
(म० उ०)

इस वचन के द्वारा हृदय प्रदेश में १०१ नाड़ियों की स्थिति बतलाई है। उनमें योगमार्गवाले तीन नाड़ियों को प्रधान मानते हैं, जिनका कि नाम इडा, पिङ्गला व सुषुम्णा है। इनमें भी सुषुम्णा प्रधान है जो मेरु प्रदेश में होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में जाती है। शेष जो नाड़ियों में से इडा वाम भाग से होती हुई तथा पिङ्गला दक्षिण भाग से होती हुई समस्त धातों को वेष्टन करती हुई नासारन्ध्र में जाती है। योगशास्त्र के निम्न श्लोकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे ।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा ॥
इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे ।
सर्वप्राणानि संवेष्ट्य नासान्ध्रगते शुभे ॥

इत्यादि ।

भावार्थ ऊपर बतलाया जा चुका है।

भ्रूमध्य के ऊपर इडा और पिङ्गला इन दोनों नाड़ियों का

संगम होता है। बाद में वे नासारन्ध्रों में पहुँचती हैं। वहीं पर ललाट प्रदेश में सुषुम्णा नाड़ी भी इनसे आ मिलती है। इसी स्थान में योगी ध्यान लगाया करते हैं। इन तीनों नाड़ियों के मिलने के कारण यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि शास्त्रों में इन तीनों नाड़ियों का गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती रूप से व्यवहार किया है। जैसा कि योग शास्त्र के निम्न श्लोक में स्पष्ट है—

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा च सरस्वती॥

इडा नाड़ी भगवती गङ्गा है, पिङ्गला यमुना नदी है, तथा इन दोनों के मध्य सुषुम्णा सरस्वती है। मेरुदण्ड के मध्यस्थित सुषुम्णा के अत्यन्त सूक्ष्म तथा बाह्येन्द्रियों के अगोचर होने से सुषुम्णा को अन्तःसलिला सरस्वती का रूप दिया है। जिस प्रकार गङ्गा, यमुना और सरस्वती के संगमस्थान त्रिवेणी में स्नान करने से मुक्ति होती है, उसी प्रकार जो योगी इन तीनों नाड़ियों के संगमस्थान में ध्यान लगा कर ब्रह्मरस का आस्वादन किया करते हैं उनकी मोक्ष हो जाती है। यह भी शास्त्र प्रमाणित बात है। जैसे—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानंमहाफलम्॥

यो० शा०

दादू जी ने भी इस योगियों के दिव्य स्नान का वर्णन किया है—

ऐसी तौ ऐसी बनि आई, रामचरण बिन रह्यो न जाई ॥टेक॥
खोजि को मिलबे के कारण, त्रिकुटी संगम नीर नहाई।
चरणकमल की लहैं ल्यौ लागैं, जतन जतन करि प्रीति बनाई॥१॥
जे रस भीनां छाकरि जागैं सुन्दरि सहजैं संग समाई।
अनहद बाजे बाजण लागैं, जिभ्या हीणैं कीरति गाई॥२॥
कैहां कहाँ कुछ बरणि न जाई, अविगति अन्तर ज्योति जगाई।
दादू उनको मरम न जानैं, आप सुरंगे बैन बजाई॥३॥

ऐसा ज्ञान कथो नर ज्ञानी, इहि घर होय सहज सुख आनी ॥टेक॥
गङ्ग जमुन तहँ नीर नहाई, सुषमन नारी रंग लगाई॥१॥
इत्यादि।

नीके राम कहत है बपुरा, घर माहिं घर निर्मल राखैं,
पांचों धोवे काया कपरा ॥ टेक ॥
सहज सपर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट संजम सपरा।
सुन्दरी सन्मुख जागण लागी, तहँ मोहन मेरा मन पकरा॥
बिन रसना मोहन गुन गावै, नाना बाणी अनभै अपरा।
दादू अनहद ऐसे कहिये, भक्तितत्व यहु मारग सकरा॥

इन पदों के अन्दर त्रिकुटी-सङ्गम व त्रिवेणी-स्नान का स्पष्ट उल्लेख है। इस अवस्था का नाम परिचयावस्था है। यहाँ अनेक प्रकार के बाजों की ध्वनियां भी साधक को सुनाई देने लगती है। जिसका वर्णन सुन्दरदास जी ने भिन्न रीति से किया है—

प्रथम झींगर सुनाइ झंकारधुनि, दूसरि कहीजै।
तृतिय घंटाहु मृदंग, चतुर्थ नाल सुनीजै॥
पञ्चम घनगर्जानाद षष्ठ वीणा धुनि होई।
सप्तम बजई भेरि अष्टमे दुन्दुभि दोई॥
नवमे गर्ज समुद्र को दशम मेघ धीपई गुनै।
कह सुन्दर अनहद नाद को दश प्रकार योगी सुनै॥

ये सब ध्वनियां एक प्रकार से अनहद नाद की ही व्याख्याएं हैं। यहां सब की पूर्ण एकाग्रता ही जाने के बाद "अनहद होत घना" जैसा हृदयस्थ आत्मनाद सुनाई देता है। यही अनहदनाद है। इसका वर्णन पहिले पद में स्पष्ट किया है।

दूसरे पद में इड़ा और पिङ्गला का योगशास्त्र में गङ्गा तथा यमुना पद से जो व्यवहार किया है, उसका संकेत है। इस त्रिवेणी में स्नान करने से परम पद की प्राप्ति हो जाती है। प्रमाण संकेत—

"साईं को मिलिबे के कारन त्रिकुटी संगम नीर नहाई।"

इसी बात को इस पद में स्पष्ट किया है। और सहजता निम्नलिखित पद में मिलता है, जैसे—

इत है नीर नहावन जोग, अनतहि भ्रम भूलाये लोग॥
तिहि तट न्हाये निर्मल होइ, वस्तु अगोचर लखै रे सोइ॥

इत्यादि।

इस तरह अल्पाहार व निर्विकल्प समाधि आदि का विशद निरूपण बानी में मिलता है। निर्विकल्पक समाधि का निरूपण 'परिचय' के अङ्ग में—

आगम न बोले आगम सौं, मन ना खोले मन।
सबद न बोले सबद सौं, दादू राम रतन॥

(प० अं० सा० २६४)

इत्यादि स्थलियों में मिलता है। इसप्रकार और भी योगविषयक स्थलियों व पद दादूजी की बानी में मिलते हैं। जैसे—

मन पवन ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सो लहै ॥टेक॥
पंच बाइ जे सहजि समावै, ससि हरि के घर आणी पूर।
सीतल सदा मिले सुखदाई, अनहद सबद बजावै तूर ॥१॥
बंक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवा कहीं न जाय।
बिगसै कमल प्रेम जब उपजै, आप जीव की करै सहाय ॥२॥
तेसि गुफा में जोति बिचारै, तब तेहि घर्मैं त्रिभुवन राय॥
अंतर आप मिले अबिनासी, पद आनन्द काल नहिं खाय॥
आवण जाण जाइ भय भाजै, अवरण के घर वरण समाय।
दादू जाइ मिलै अग जीवन, तब यहु आवागमन बिलाइ॥

इत्यादि।

इसीतरह नादबिन्दुध्यान का भी बहुत अच्छा निरूपण बानी में मिलता है। नामोपासना को अप्रत्यक्षतया स्वीकार करने

जाते महात्माओं का तो नादबिन्दु के अन्दर मन को लीन कर ब्रह्मानन्द का आस्वादन करते हुए जीवन्मुक्त बन जाना ही प्रधान लक्ष्य था। अतः इसका निरूपण तो इनकी आत्मा में होना ही चाहिये। गुरुजी ही वाणी में —

नाद बिन्द सों घट भरै सो जोगी जीवै।

इत्यादि वचनों द्वारा उसका निरूपण बहुत जगह मिलता है किन्तु उसकी उपासना का क्या प्रकार है? यह स्वतन्त्र लिखने का विषय है, अतः उसका निरूपण यहां नहीं किया जायगा। तात्पर्य यह है कि योगदर्शन के सिद्धान्तों का गुरु जी की वाणी में निरूपण है इसका दिग्दर्शनमात्र कराना यहां अभिप्रेत था। यह उपर्युक्त निरूपण से हो ही जाता है। अतः इस विषय को यहीं समाप्त किया जाता है।

जीवन्मुक्त निरूपण

इस तरह से निदिध्यासनरूप उपासना के बाद साधक समाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। तब उसे जीव ब्रह्म का अभेदज्ञान हो जाता है। इसी का नाम साक्षात्कार है। इस समय जीव शुद्ध चैतन्य ब्रह्म ही है ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो जाने से स्वस्वरूपप्राप्तिरूप मुक्ति हो जाती है। अब यह अन्तःकरण-उपाधि इस होने का जीव में अनुभव नहीं करता। उसे मनोराज्यरूप द्वैत में मिथ्यात्व का ज्ञान हो चुका है। गुणों को यह माया व प्रकृति का धर्म ही समझता है न कि आत्मा का। उपाधिकृत कर्तृत्व भोक्तृत्व

आदि धर्मों की भी प्रतीति अन्तःकरणादि उपाधियों में ही होती है न कि आत्मा में। इस लिये प्रकृति पुरुषके विवेक का ज्ञान न होने से अथवा अन्तःकरणादि उपाधिरूप माया व शुद्धचैतन्य का अभेद-ज्ञान होने से जो औपाधिक कर्तृत्व आत्मा में प्रतीत होता था, जिसका वर्णन गीता में निम्न रीति से किया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥
(गी० अ० १८)

वह भी आत्मा में प्रतीत नहीं होता। उसके प्रतीत न होने से वह कर्तृत्वादि धर्म जन्य सर्वप्रकार के दुःखों से रहित होजाता है। अब उसे आनन्दरूप प्रत्यगात्मा के दर्शन हो जाने से निरतिशय आनन्द का ही भान होता है। भान क्या होता है वह अपने आप को निरतिशय आनन्दघन ही समझता है। न वह सुख से सुखी तथा दुःख से दुःखी होता है। न उसका किसी से राग है तथा न द्वेष ही है। संचित तथा आगामी कर्मों के समूल नष्ट हो जाने पर भी केवल प्रारब्ध कर्म के शेष रहजाने से प्रारब्धकर्म जनित शरीर शेष रहजाता है। अतः शरीर द्वारा वह कर्म करता है। किन्तु उसमें मिथ्याज्ञान होजाने से आसक्ति न होने के कारण आसक्ति-जन्य बन्धन उसको नहीं होता। इसी अवस्था का नाम जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्तशब्द जीवन सन् हो मुक्तः जीवन्मुक्तः अर्थात् जीते हुए ही (देह रहते हुए भी) जो संसार-बन्धनों से मुक्त हो चुका है इस

उपनिषदोंमें अर्थ के द्वारा इसी दशा का वर्णन कर गया है। शास्त्रों में जीवन्मुक्त पुरुष की जैसी जो स्थिति बतलाई है। जैसे—

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो।
अन्तर्मुखमतिर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते॥
कर्तृत्वभोक्तृत्वबन्धाति यस्यमतिरसङ्कधीः।
जीवन्मुक्तो गतासङ्गः समाधानमेव निश्चति॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥

(यो० वा०)

शून्यादृष्टिर्वृथाचेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्न क्षीणसंसारसागरे॥
सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो जीवन्मुक्तो विराजते॥

(अष्टा० गी०)

शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः।
नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ताविवर्जितः॥
किञ्चिदस्तिवहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते।

(मैत्रेयोपनिषद्)

"जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाज्ञानग्रन्थेर्ज्ञानेन निरज्ञानग्रन्थेर्द्वारा स्वस्वरूपावस्थानमेव स्वाज्ञानमूलेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितक्रियासंहारायविद्वत्संन्यासीनामपि अविनाभूतत्वान्निखिलकर्मपरित्यागो मन्त्रनिष्टः।"

(मुक्तिकोपनिषद्)

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥

(भाग० ११-१३-१४

भिन्न भाषियों में जीवन्मुक्त का यही स्वरूप मिलता है —

जीवन छूटै देह गुण जीवन मुक्ता होय ।
जीवन काटै कर्म सब मुक्त कहावै सोय ॥

दादू मृतकवत ही जानिये जब गुण इन्द्रिय नाँहि ।
जब मन आपा मिट गया तब ब्रह्म समाना माँहि ॥

दूसरी साखी में मृतक पद जीवन्मुक्त का ही उपलक्षक है। दादूजी ने जीवन्मुक्त का जीवनमृतक पद से भी व्यवहार किया है, क्योंकि जीवन्मुक्त मन, इन्द्रिय देह तथा उन के गुणधर्मों का विरोध करके लोकव्यवहार में जनसमाज होता हुआ अहंकाररहित होने से मृतक के समान ही होजाता है। गीता में जीवन्मुक्त का व्यवहार 'गुणातीत' पद से किया है। गुणातीत पुरुष ही वस्तुतः जीवन्मुक्त होता है। जो गुणातीत है वह जीवन्मुक्त है और जो जीवन्मुक्त है वह गुणातीत है। गुणातीत का स्वरूप और गुणातीत होने का उपाय गीता में निम्नलिखित में बतलाया है।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

गीता अ० १४

अर्थात् जो दासीनवत्स्थित है, कुछ दुःख, निन्दा आदि के लिये साधु मत में मात्र भाव रखता है और स्वयंभाव को स्थिर व्यवहार करता हुआ गुणों से विचलित नहीं होता वह गुणातीत है। गुणातीतता की प्राप्तिका उपाय भगवान ने अनन्य भक्ति है। अर्थात् सब विषयों से मन को हटाकर भगवान सिद्धान्तमय ईश्वर में ध्यान लगाना है। जैसा—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

गीता अ० १४

इस श्लोक वाक्य में भगवान ने बोधन किया है।

तुलसी ने भी गुणातीत का यही लक्षण तथा प्रभेदिक द्वारा उसकी प्राप्ति का यही उपाय बतलाया है। जैसे—

गुणातीत सो दर्शनी जाया धरै उदास ।
दादू निर्मल राम सहि डोरी लागा जास ॥

अर्थ—तुलना तृणा क्यों भूलिये शीत तपति क्यों जाय।
क्यों मन छूटै देह गुण सतगुरु कहि समझाय॥

टुलना—जोगी वे मत जाहि करि लै राखै निज ठौर।
दादू भूलै देह गुण बिसरि जाय सब और॥
देह रहै संसार में जीव राम के पास।
दादू कुछ व्यापै नहीं काल झाल दुख त्रास॥
पद्मा की संगति तजै बैठा हरिपद माँहि।
दादू निर्भय ह्वै रहै कोई गुण व्यापै नाँहि॥ आदि

पहिलेके साखी में "आवा" पदसे हठयोगादि के मूल अभ्यास का उल्लेख है। अन्धकारमलिमुचि द्वारा हठयोगादि सभी ग्रन्थों व गुरुओं की निन्दा चलाया गई है।

वादीजी जीवन्मुक्त को ही वास्तविक मुक्त और जीवन्मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं। अर्थात् जीते जी आशा का नाश करके मन का निरोध कर उसको अविच्छिन्न रूप से शुद्धचैतन्यस्वरूप प्रत्यगात्मा में लगाना और उस परमानन्द के आस्वादन करने का नाम ही उनके मत से मुक्ति है। यदि जीते जी मुक्ति न पा सका तो बाद में विदेहदेह के परित्यागमात्र से कोई मुक्ति नहीं पा सकता। इसीलिये स्वयं साखी में जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन तथा देहत्याग के बाद मुक्ति का निषेध किया है। यदि जीते जी त्रिगुणमय संसार से मुक्ति न हुई तो केवल देह छूटने मात्र से उसकी क्या संभावना है।

निम्न साखियों को देखने से इस बात की भलीभांति सिद्धि हो जायगी। जैसे—

(दादू)—जीवन छूटे देह गुण जीवत मुक्ता होय।
जीवत काटे कर्म सब, मुक्ति कहावे सोय॥
जीवत ही दुतर तिरे, जीवत लंघे पार।
जीवत पाया जगत गुरु, दादू ज्ञान विचार॥
जीवत पाया प्रेमरस, जीवत पीया अघाइ।
जीवत पाया स्वाद सुख, दादू रहे समाइ।
जीवत मिले सो जीवते, मूवे मिले मरि जाइ।
दादू दोनों देखि करि, जहँ जाणे तहँ जाइ॥
जीवत दुतर ना तिरे, जीवत ना लंघे पार।
जीवत निरभै ना भये, दादू ते संसार॥
दादू छूटे जीवता, मूंवा छूटे नाँहि।
मूवा पीछे छूटिये, तो सब आवे उस माँहि॥
मूवां पीछे मुकति बतावै, मूंवा पीछे मेला।
मूवां पीछे अमर अभै पद, दादू भूले गहिला॥
पिण्ड मुक्ति सबको कहै, प्राण मुक्ति नहिं होय।
प्राण मुक्ति सतगुरु करै, दादू विरला कोय॥

इत्यादि

इन साखियों के देखने से यह होजाता है कि दादूजी जीवन्मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं जोकि अद्वैतवेदान्तियों को भी स्वीकृत

है। यदि इस जन्म में मुक्ति न हुई तो इसे फिर संसार में आना पड़ेगा। यहाँ आचार्यों को सिद्धान्तसम्मत मुक्ति का और पूर्वमीमांसादि सम्मत मुक्तिवाद का भी खण्डन अर्थात् खलासा दिया है। इस विषय का सूत्ररूप से यहाँ निर्देश किया गया है। इस पर पृथक्रूप से स्वतन्त्र लेख में ही प्रकाश डाला जा सकता है।

" पाणिनिदर्शन और वाणी "

शब्दका अर्थ के साथ घनिष्ठ संबंध है इसमें सभी दर्शनकार एकमत हैं वे दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। जब किसी भी प्रमाण से किसी अर्थ की उपस्थिति होती है तब उस अर्थ के वाचक शब्द की भी उपस्थिति अवश्य होती है। गाय को देखने पर गाय व्यक्ति (अर्थ) को बतलाने वाले शब्द का भी ज्ञान होता ही है। इसी लिये भाट्टोजीभट्ट आदि वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ का परस्पर में तादात्म्य माना है। यही कारण है कि 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्ग-विनाकिनः' इत्यादि वाक्यों में दाशरथि राम व्यक्ति के विनाशी एवं मानभंजक होने पर भी 'राम' इस दो अक्षरवाले शब्द को इसका मानभंजक बतलाया है।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

अर्थात् ज्ञानमात्र शब्द के बिना प्रतीत नहीं हो सकता। प्रत्येक ज्ञान में अर्थ के साथ शब्द भी विषयतया प्रतीत होता है

यह सर्वसम्मत सार्वत्रिक सिद्धान्त भी उपर्युक्त बात का पोषक है। पाणिनिदर्शनानुयायियों ने इसी बातको ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण के पिण्ड संसार को शब्द-ब्रह्म का विवर्त बतलाया है जैसा कि निम्न लिखित हरिकारिका से स्पष्ट है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

अ० काण्ड १

इसी आशय को ध्यान में रखतेहुए माण्डूक्य श्रुति भी शिष्टिडिमघोष कर रही है कि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। माण्डू० १०। श्री आनन्दगिरि ने इस की व्याख्या करते हुए शब्दार्थ के तादात्म्य-संबंध का स्पष्टीकरण भी कर दिया है। किन्तु यह सब शब्द और अर्थ के सम्बन्धज्ञान पर निर्भर है। जिसको शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्धज्ञान मालूम है उसको शब्दद्वारा अर्थप्रतीति हो ही जाती है।

फिर इस संसार में अधिकांश अर्थ शब्द द्वारा ही ज्ञात होते हैं। यह बात 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' पा० सू० १।१।६८। इस सूत्र के 'शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययः। आचार्य शब्दपूर्वो योऽपि खल्वौ नाम्नाऽऽह्वयते नाम च यदाऽनेन नामधेयेन भवति तदा पुरुहूत इति भवानाह, इस भाष्य के तथा "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" इस प्रत्याहारिक भाष्य के देखने से स्पष्ट हो जाती

है। इसी शब्दार्थ सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए कबीर ने बन्ध, मोक्ष, ज्ञान आदि सभी को शब्द द्वारा बतलाई है।

शब्दैं बंध्या सब रहै, शब्दैं ही सब जाइ।
शब्दैं ही सब ऊपजै, शब्दैं सबै समाइ॥
शब्दैं ही सचु पाइये, शब्दैं ही सन्तोष।
शब्दैं ही अविचल भया, शब्दैं भाग्या दोष॥
शब्दैं ही सखिया भया, शब्दैं सहज समाधि।
शब्दैं ही निर्मल मिलै, शब्दैं निर्मल साधि॥
शब्दौं मांही जागिया, जे कोइ बोलै बिचार।
बाहर भीतर एकसा, तिनहीं का आवै तार॥

इन पंक्तियों के देखने से यह बात होता है कि शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध है और सभी को लेकर शब्द के द्वारा सब कार्य सम्पन्न होते हैं। अर्थात् शब्द से किस प्रकार से सांसारिक बन्धन मुक्ति, ज्ञान व सन्तोषादि प्राप्त हो सकती है और किस प्रकार से इन बातों की शब्द द्वारा प्राप्ति हो सकती है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी बतला दिया है कि ब्रह्मप्राप्ति अथवा भी प्राप्ति चाहे गुरु के उपदेश से हो चाहे वेदान्तादिकों को हो या अन्य किसी प्रकार से किन्तु शिष्य को बोध की वस्तु शब्द को द्वारा बता कर ही प्राप्त होती है। अतः शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के परिज्ञान द्वारा साधकों के अन्दर ही ब्रह्मप्राप्ति आदि की अभिलाषा करनी चाहिये और उसे प्राप्त करना चाहिये।

जबकि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध शब्द के नित्य होने से नित्य है। शब्दनित्यत्ववादी वैयाकरण तथा मीमांसक दोनों इसमें एकमत हैं।

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेस्तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्।

मी० द० १-१-५

यह जैमिनिसूत्र और "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" यह आदिम इसी बात की पुष्टि करता है। अब शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है तब तो सृष्टि अर्थमूला से होती है वह शब्द-मूला से आरम्भ होती है। इसी लिये अधोलिखित शास्त्रीय वचन शब्दद्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति बताता है। जैसे—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।
अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

मनु० १२।९७

नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।

मनु० १।२१

कि च जितनी भी सृष्टि होती है वह शब्दोच्चारणपूर्विका ही होती है।

'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्।

तै० आ० २।१।४२

अर्थात् उसने भूरादि उच्चारण कर के भूमि को पैदा किया। यह वेदवाक्य इसी बात का प्रतिपादन कर रहा है। वेदान्तदर्शन में, निम्नलिखित सूत्र में—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

(ब्र०सू० १-३-२८)

भगवान् शङ्कराचार्य ने इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। शब्दशास्त्रादी वैयाकरण इसी बात को ध्यान में रखते हुए सारे संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त बतला रहे हैं। इस शब्द-ब्रह्म से स्फोट ध्वनि का क्रम भी शास्त्रों में बतलाया है। हृदयाकाशवर्त्तनादि ही शब्दब्रह्म है जिसका अभक्षाप्रत्यक्ष मूलनिरोध करने पर होता है। वही नाद अकार उकार मकारात्मक ओंकार की तुरीय मात्रा है जो कि वास्तविक वस्तु है और अव्यक्त है। इसी का वर्णन करते हुए दुर्गासप्तशती लिखती है—

अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः। इति

(दु० स० श० १-५४)

अर्थात् ओंकार की वह नादरूप अर्धमात्रा नित्य है तथा अकारादि की तरह उसका विशेषतया उच्चारण नहीं हो सकता। वह शब्दब्रह्मरूप होने से सब विशेषताओं से रहित है और फिर

इसी शब्दब्रह्म से सर्व प्रथम ओंकार की उत्पत्ति होती है और ओंकार से अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इत्यादि पांच प्रकार लिए आकाशादि पञ्च सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार क्रम से स्थूल भूतों की तथा स्थूल शब्दब्रह्म व अर्थब्रह्म विश्व की उत्पत्ति होती है। शब्दब्रह्म से सृष्टि का यह सामान्य क्रम भागवत के ५ वें स्कन्ध में मिलता है। जैसे—

समाहितान्यनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृदाकाशादभूत्तस्मात् पुमिलोकादिभाव्यये॥

५।६।२५।

ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः॥

५।६।२६।

तस्य वाऽवयवा वर्णा अकारादा भृगूद्वह।
दाक्षायणी यत्पत्नी मातेव पुरुषस्य हि॥

५।६।२७।

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः।
अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शहृस्वदीर्घादिलक्षणम्॥

५।६।२९।

यहाँ पुनिरोध पद से मनोवृत्तिनिरोध ही विवक्षित है। जो मन की वृत्तियों का निरोध करते हैं वे योगी ही उस अनाहत

समय को सुन पाते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं। यही कितने ही टीकाकारों ने, कर्णपुटों के बन्द कर देने से उस शब्द को जनसाधारण सुन सकता है, ऐसा अर्थ किया है किन्तु कर्णपुटों के बन्द कर देने पर जो शब्द अनेक को सुनाई देता है वह अनाहत नाद या शब्द-ब्रह्म नहीं है। अपितु सामान्य नाद है। अथवा वह भीतर में चलमान वैश्वानर अग्नि का घोष है न कि अनाहतनादरूपी शब्दब्रह्म का। बृहदारण्यक श्रुति इसी बातकी पुष्टि कर रही है—

'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते, तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति, स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति।'

बृ० उ० ६ ब्रा०

इस श्रुति के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रोत्र के बन्द करने से जो शब्द जनसाधारण को सुनाई देता है वह अनाहतनादरूपी शब्दब्रह्म नहीं है। इसका अर्थ तो ललाटमध्देशस्थ आज्ञाचक्र में नहीं कि इडा पिङ्गला व सुषुम्णा नाडी का मेल होता है, उसमें अविच्छिन्न ध्यान लगाने से ही होता है। किन्तु उस सामान्य नाद को सुनने का अभ्यास करने से बाह्य ध्वनियाँ बन्द होजाती हैं और श्रोत्रवृत्ति बाह्य ध्वनियों से हट कर अन्तर्मुख हो जाती है। उस नाद पर मनोयोग करने से, पहिले उसको अनेक प्रकार के बादों के शब्द सुनाई देते हैं और स्थूल स्थूल नाद से सूक्ष्म सूक्ष्म नाद पर ध्यान लगाते लगाते अन्त में शब्दब्रह्मरूप अनाहत नाद

उसे सुनाई देजाता है। इस तरह कर्णपुटनिधान से जो सर्वप्रथम नाद सुनने में आता है वह परम्परया अभ्यास द्वारा उस वास्तविक नाद के श्रवण में कारण बन जाता है, यह अभिप्राय ही उन टीकाकारों का समझना चाहिए। जैसकि निम्न जोग वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है—

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्ममुत्तमः॥
आदौ जलधिजीमूत भेरी निर्झरसम्भवः।
.....
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः।

इत्यादि। ना० बि० उ०

यही शब्दब्रह्म की परावाणी है, जिसका निरूपण निम्नरूप से शास्त्रों में मिलता है—

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते॥

इसका ज्ञान होजाने पर तो परब्रह्म की प्राप्ति ही हो जाती है। जैसा इस उपनिषद् वचन से स्पष्ट है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्चयत् ।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ इति

अतः लोक को शब्द कर देने मात्र से यदि इसका श्रावण प्रत्यक्ष जनसाधारण को हो जायगा तो परब्रह्म की प्राप्ति भी सरलता से हो जायगी, ऐसी दशा में—

'अजे वेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'

इस न्याय के अनुसार कौन इतर कठोर साधनों में प्रवृत्त होगा, और क्या उन साधनों की आवश्यकता ही रह जायगी, जब कि इतने सरल उपाय से उस प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति हो सकती है।

अस्तु इस ब्रह्मरूपी शब्दब्रह्म से, जो कि ॐकार की ही अवस्था तुरीयमात्रारूप है, त्रिमात्र ॐकार की उत्पत्ति और फिर उससे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है। इसी बात का निरूपण—

ॐकारप्रभवा देवा ॐकारप्रभवाः स्वराः ।
ॐकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

ध्या० बि० उ०

इस मन्त्र में भी किया है। इसी सृष्टिक्रम का निरूपण दादूजी की निम्न साखियों में मिलता है। जैसे—

पहिली क्रिया आप थें, उत्पत्ति ओंकार ।
ओंकार थें ऊपजे, पंच तत्व आकार ॥

पञ्च तत्व थें घट भया, बहु विधि सब विस्तार ।
दादू घट थें ऊपजै, मैं नैं बणै विचार ॥

इन साखियों में ओंकार से स्थूल पञ्चतत्व की उत्पत्ति बतलाई है क्यों कि आकार बिना स्थूलता के नहीं होसकता। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सृष्टि में ओंकार से सीधे ही स्थूल पञ्च महाभूत पैदा हो जाते हैं किन्तु शुद्धपादिकम से तथा सूक्ष्म-भूतादिक्रम से ही उनकी उत्पत्ति होती है।

किन्तु जब इस पञ्चभूतात्मक स्थूल देह की उत्पत्ति हो जाती है तभी लिङ्ग शरीर तथा उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य की स्थिति होती है अन्यथा नहीं। इसीलिये स्थूल (पाञ्चभौतिक) शरीर की आवश्यकता है। जैसा कि—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥
(सां० का०)

इस कारिका से स्पष्ट है। स्थूल शरीर के पैदा होते ही लिङ्ग शरीर का उसके अन्दर प्रवेश होता है और साथ ही उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य का भी। इनका प्रवेश होते ही स्थूल शरीर की घटसंज्ञा हो जाती है, यही घट की उत्पत्ति है। घट के उत्पन्न होते ही हठयोगादि में—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते । (पा० शि०)

इस वैयाकरणप्रतिपादित रीति के अनुसार अकारादि सप्तक वर्णों की उत्पत्ति होती है। उसी दर्शनान्तरिका "मैं हि वर्णो विचारे" इस सप्तमी भाग से यही निर्देश किया है। किंच जिस ओंकार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति द्वारा इस घट की उत्पत्ति होती है उसी घट से हठयोगप्रदीपद्वारा फिर ओंकार की उत्पत्ति होती है। इसी रहस्य को दादूजी ने निम्नलिखित साखी में भली प्रकार प्रकट किया है—

एक ऊपना शब्दतैं, शब्द पञ्च सौं होय ।
साईं मेरे सब किया, बूझै बिरला कोय ॥

यह शब्द के आदि का प्रकरण है। अतः नादब्रह्म के द्वारा ही सृष्टिक्रम बतला कर इन साखियों का समन्वय किया है किन्तु वेदान्तप्रतिपादित सृष्टिक्रम के अनुसार भी इन साखियों का समन्वय भिन्न रीति से हो सकता है। जैसे सर्वप्रथम शुद्ध सत्त्व माया के द्वारा परिच्छिन्न होकर मायाविशिष्ट ईश्वर बनता है। यह ईश्वर मायाविशिष्ट है और माया गुणत्रयवती है अतः उनका ओंकार शब्द से व्यवहार किया जा सकता है। इसी लिये "तस्य वाचकः प्रणवः" इस सूत्र में ईश्वर का वाचक 'ओम्' शब्द बतलाया गया है। वाच्य और वाचक का तादात्म्य होने से ओंकार के द्वारा ओंकार के वाच्य ईश्वर का यहाँ कहा है। इसी ओंकाररूप माया

ईश्वर से आकाशादि क्रम से पांच भूतों की तथा भौतिकवर्ग की सृष्टि होती है। इसी प्रकार के सृष्टिक्रम का तैत्तिरीयश्रुति प्रतिपादन कर रही है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, इत्यादि।

(तै० ब्र०)

इस श्रुति में भी आत्मपद से ईश्वर ही लिया गया है न कि शुद्ध चैतन्य, यह बात पञ्चदशी आदि ग्रन्थों में स्पष्ट बतलाई गई है। विस्तार के भय से उसके लिखने की यहां आवश्यकता नहीं।

किन्तु यह ओंकार चाहे शब्दब्रह्मजन्य ओंकारशब्द हो और चाहे मायाविशिष्टचैतन्यरूप ईश्वर हो जन्य व मायाविशिष्ट होने से अनित्य व कल्पित तत्व है, पारमार्थिक नहीं। शब्दब्रह्मवादी वैयाकरण और परब्रह्मवादी वेदान्ती दोनों ही ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तुओं को कल्पित मिथ्या व मायामय मानते हैं। दादूजी ने भी इसे ऐसा ही स्वीकार किया है—

निरञ्जन निराकार है, ओङ्कार आकार।
दादू सब रङ्ग रूप सब, सब विधि सब विस्तार॥
आदि शब्द ओंकार है, बोलै सब घट माँहि।
दादू माया विस्तरी, परम तत्व कछु नाँहि॥

इस प्रकार से शाङ्करभाष्यानुसारी वेदान्तदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का, जिनके द्वारा पाणिनिदर्शन दर्शनकोटि में आता है, निरूपण बाबूजी की वाणी में भली भाँति उपलब्ध होता है।

सांख्यदर्शन और वाणी

सांख्यदर्शन भी अद्वैतवेदान्तियों की तरह पुरुषों को निर्गुण निर्लेप व निर्धर्मक ही स्वीकार करता है। पुरुष नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त है। कर्तृत्व भोक्तृत्वादि सभी धर्म त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसके कार्यभूत महत्तत्वपरनामक बुद्धि के हैं। बन्ध मोक्ष भी प्रकृति के ही धर्म हैं पुरुष के नहीं। किन्तु पुरुष अविवेक से प्रकृति के साथ अपना सायुज्य (अभेद) समझे रहा है, अतः प्रकृति के धर्मों को अपना धर्म समझने से ही उसमें काल्पनिक बन्ध, मोक्ष व कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों की प्रतीति हो रही है। जैसा कि—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

इस गीतावचन से स्पष्ट है। अतः इस विषय में उसकी वेदान्तदर्शन के साथ समानता होने से वेदान्तदर्शन के समन्वय के साथ ही इसका भी समन्वय समझ लेना चाहिये। सांख्य के पुरुषबहुत्वादिक विषयों का निरूपण प्रधानतया अद्वैत व अखण्ड ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली महात्माओं की वाणी में मिल नहीं

सकता, अतः परिशेषात् सांख्य की यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही सिद्ध होती है जिसका अर्हत से विरोध नहीं है उनका यह त्रिगुण निष्फल नहीं सिद्ध सकता है। इसीका समन्वय यहां बतलाया जायगा।

सांख्य जाते पचीस तत्व मानते हैं उनमें मूल प्रकृति केवल प्रकृति है बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र ये सात प्रकृतिविकृति हैं। पञ्च महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन ये १६ विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है अर्थात् अनुभयरूप है। इन तत्वों में पांच महाभूतों से स्थूल पाञ्चौतिक शरीर बनता है और पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्रा तथा मन और बुद्धि इन से सूक्ष्मशरीर बनता है। इस सूक्ष्मशरीर के द्वारा ही जीव या पुरुष संसार में गमनागमन व सुख दुःख का भोग किया करता है। इसी लिये—

पुरुषार्थक्रियाहेतुः नियतो महदादिसूक्ष्मपर्यन्तः।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

सां० का०

इस कारिका में लिङ्गशरीर का ही परलोकादिगमन बतलाया है। यह सूक्ष्म शरीर भी आधार और आधेय भेद से दो प्रकार का है। पांच तन्मात्रायें आधाररूप सूक्ष्मशरीर हैं और पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि ये ग्यारह आधेयरूप सूक्ष्मशरीर हैं। आधेय सूक्ष्मशरीर बिना आधार के रह नहीं सकता। इसी लिये सांख्यकारिका में यह स्पष्ट लिखा है कि जैसे

चित्र के लिये आधारभूत भित्ति व पट की आवश्यकता है उसी प्रकार आधेय सूक्ष्मशरीर के लिये आधाररूप पंचतन्मात्राओं की आवश्यकता है। जैसे—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ सां. का.

'न स्वातन्त्र्येणाधारेण छायादयश्चित्रवत्।'

(सां० द० अ० ३-१२)

इस सांख्यसूत्र में भी इसी बात का उल्लेख है। सांख्य सूत्रों के भाष्यकार श्री विज्ञानभिक्षु ने इन दो भेदों का भाष्य में स्पष्ट उल्लेख किया है।

अस्तु इन १७ तत्वों का, जिनसे सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है, ८ तत्वों में भी अन्तर्भाव किया जासकता है। क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का उनके उपादान कारण अहंकार में अन्तर्भाव करसकते हैं। कि या जैसे मन, बुद्धि और अहंकार आदि की प्रतिविषय में संकल्पादि व्यापार करने के लिये आवश्यकता है उस प्रकार इन इन्द्रियों के शब्दादिविषयक होने से प्रत्येक विषय में उनके व्यापार की आवश्यकता नहीं। एवं मानसिक (आन्तर) विषयों के ज्ञान करने में बाह्येन्द्रियों की बिलकुल आवश्यकता नहीं है इन्हीं सब कारणों से दश इन्द्रियों का अहंकार में अन्तर्भाव किया जा सकता है। ऐसा कर लेने पर पंच तन्मात्राएं, मन, बुद्धि व अहंकार ये आठ तत्व ही लिङ्ग व सूक्ष्मशरीर कह-

होयेंगे। इसी आशय से 'ज्ञानसमुद्र' ग्रन्थ में महात्मा सुन्दरदासजी ने नौ तत्वों का ही लिङ्गशरीर बतलाया है। जैसे—

नव तत्वनि को लिङ्ग प्रबन्धा, शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा।
मन अरु बुद्धि चित्त अहंकारा, ये नव तत्व किये निर्धारा॥

अन्तर इतना ही है कि सुन्दरदासजी ने मन बुद्धि चित्त और अहंकार इस तरह से अन्तःकरण के चार भेद मानकर नौ तत्वों का लिङ्गशरीर बतलाया है जब कि हमने यहां पर अन्तःकरण के मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन भेद मानकर आठ तत्वों का लिङ्ग-शरीर बतलाया है।

किन्तु 'आठ तत्व' इस वाक्य से 'पुर्यष्टक' अर्थात् आठ पुरियां लेनी चाहियें। लिङ्ग शरीर के निर्माणक तत्वों का पुर्यष्टक के रूप में भी शास्त्रों से विभाग किया गया है। सांख्यदर्शन के भाष्यकार श्री विज्ञानभिक्षु ने—

वासना भूतसूक्ष्मं च कर्मविद्ये तथैव च।
दशेन्द्रियं मनो बुद्धिरलिङ्गं विदुर्बुधाः।

यो० वा०

इस योगवाशिष्ठ के वचन के अनुसार, वासना, भूतसूक्ष्म, कर्म, विद्या, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि, इस प्रकार आठ पुरियों का विभाग किया है। किन्तु अन्यत्र, पांच तन्मात्रा, मन बुद्धि और अहङ्कार इनों रूप से पुर्यष्टक का विभाग किया है इसी को गीता में अपरा प्रकृति कहा है। जैसे—

भूमिरापोऽनलं वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयम् ।

(गीता० अ० ७)

किन्तु अन्यत्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय और मन, बुद्धि, व अहंकार ये आठ पुरियां मानी हैं, जैसा कि निम्नलिखित वचन से मालूम होता है—

शब्दःस्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धस्तथैव च ।
मनो बुद्धिरहङ्कारः पुर्यष्टकमुदाहृतम् ॥

(सांख्य० ६० सं०)

वस्तु किसी भी प्रकार से क्यों न माना जाय, आठ पुरियों में लिङ्गशरीर के सत्रों का समावेश हो जाता है, और आठ तत्व से आठ पुरियां ली जासकती हैं।

इन आठ तत्वों से जो लिङ्गशरीर बनता है उसी में चैतन्यरूप पुरुष रहता है। क्योंकि शरीर में जीवरूप पुरुष का संबंध लिङ्गशरीर से है न कि स्थूलशरीर से। इसीलिये सूक्ष्म-शरीर की गति अगति के द्वारा शुद्धचैतन्यरूप पुरुष का भी संसरण स्वीकार किया है। इसी सूक्ष्मशरीर में स्वच्छ बुद्धितत्व इसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही प्रतिबिम्बित चैतन्य तो हमारा शुद्ध पुरुष है। यह स्वभावतः निर्लेप होने के कारण निरंजन कहलाता है। अतः

चैतन्य की उपलब्धि सूक्ष्मशरीर में ही हो सकती है। और सूक्ष्म-शरीर की स्थिति उसके आधारभूत पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर पर निर्भर है अतः उसकी भी आधारतया आवश्यकता है ही। इसी बात का निरूपण सांख्यकारिका व विज्ञानभिक्षु-भाष्य में स्पष्ट मिलता है। बाबूजी ने सांख्यदर्शन के इस सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दर रूप में संक्षेप से वर्णन किया है। जैसे—

पांच तत्व के पांच हैं, आठ तत्व के आठ।
आठ तत्व का एक है, तहाँ निरंजन हाट॥

यहां पांच तन्मात्राओं से पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं उनका पहिले चरण में निर्देश है। और स्थूलशरीर का निर्माण उन्हीं से होता है अतः उनके द्वारा स्थूलशरीर का भी प्रधानतया निर्देश है। दूसरे चरण में सूक्ष्मशरीर के निर्मापक बुद्ध्यादि आठ तत्वों का निर्देश है। तृतीय चरण में इन आठतत्वों से निर्मित सूक्ष्मशरीर का लक्षण है क्योंकि उन सबको मिलाकर सूक्ष्मशरीर एक ही कहलाता है जैसा कि

'सप्तदशैकं लिङ्गम्'

(सां० द० अ० ५)

इस सांख्यसूत्र से स्पष्ट है और चतुर्थ चरण में शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुष की उपलब्धि भी वहीं सूक्ष्मशरीर में, बुद्धिप्रदेश में हो सकती है इस का निरूपण किया है। इस प्रकार एक ही साखी में स्थूल-शरीर, सूक्ष्मशरीर, पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति,

बुद्ध्यादि आठों गुणों का निरूपण, स्थूलशरीर के बिना सूक्ष्मशरीर का भोगसमर्थ न होना तथा सूक्ष्मशरीर में चैतन्य की उपलब्धि, इतने विषयों का किस शैली से सन्निवेश किया है।

इस तरह से सांख्यदर्शन की आठ सिद्धियों व नौ निधियों का भी सामान्य रूप से उल्लेख स्थूलरूप में आगे जाकर "काया चेली" के अंग में किया है जैसे—

काया माहैं नवनिधि ठौर। काया माहैं अष्ट सिधि सोय॥
इत्यादि।

यद्यपि ऊपर की साखी में योगदर्शन का भी समन्वय बन सकता है क्योंकि वे भी अष्ट सिद्धियों को मानते हैं तथापि यहाँ प्रकरणवश सांख्य दर्शन का ही समन्वय दर्शाया गया है।

सांख्यदर्शन का विस्तारपूर्वक व अधिक निरूपण 'दादूजी की बानी' में नहीं मिलता, तथापि संकेत से कहीं कहीं मिलता है। उसमें से एक दो उदाहरण देकर सांख्यदर्शन के सिद्धान्त भी बानी में मिलते हैं इसका दिग्दर्शन हमने करा दिया। इतना सा ही इस निबन्ध में अभिप्रेत था। अतः अब इस विषय को यहीं समाप्त कर देना उचित है।





सर्वदर्शनसमन्वय

अब मैं वह प्रकाश उपस्थित करता हूँ जिससे वेदान्त, योग, सांख्य, न्याय आदि सभी दर्शनों तथा पुराण आदि के विषयों का समन्वय मिलेगा।

तीन शून्य आकार की बाँधी निर्गुण नाम।
सहज शून्य में रमि रया, जहाँ तहाँ सब ठाम॥

इस साखी का मूल (साधारण) अर्थ यही है कि साकार पदार्थ तीन तरह का है और चतुर्थ तत्व निराकार है जो सभी आकारों में अनुस्यूत है सर्वव्यापक है। किन्तु यह एक अनुगम वाक्य है। अनुगम वाक्य उसे कहते हैं जिसमें अनेक मतों के विषयों का अनुगम अर्थात् समन्वय हो सकता है। ऐसे अनुगम मन्त्र वेद में भी मिलते हैं। जैसे—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि मेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्मद्ध द तद्ध द सर्वं सर्वा दिशो वलिमस्मै हरन्ति।

अथ० सं०

सिद्धान्त इह सप्तसु, ज्ञायते।

उनमें से कुछ मैं पाठकों के समक्ष उपस्थित करता हूँ।

उनमें से सर्व प्रथम मैं ओंकार को लेकर समन्वय करता हूँ। ओंकार एक ऐसा शब्द है जो पर और अपर उभय प्रकार के ब्रह्म को बतला सकता है, जैसा कि—

एतदेव शब्दब्रह्मणः परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः ।
(ब० उ०)

यह प्रणवोपनिषत् कहलाता है। इसीलिये माण्डूक्योपनिषत् में ओङ्कार को ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित किया गया बतलाया है। जैसा कि नारदपरिव्राजक के प्रश्न करने पर ब्रह्मा उत्तर देता है कि—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥
ओमित्येतत् । इति (ब्र० उ०)

यद्यपि यह "ओम्" पद अभिधावृत्ति से प्रणव अर्थात् ओङ्कार बोधक ही समझा जाता है, परन्तु जो कि निर्विशेष निर्गुणेश्वर, ब्रह्मस्वरूपोपनिषत् है जिसके कि विषय में उपनिषत् लिखते हैं—

यद्विदन्ति यत्परं वेदा विष्णुर्यत्ते न या विधिः ।
सोऽयं योगी निरालम्बो ब्रह्मात्मा मनसा सह । इति ब्र० उ०

फिर प्रणव को यह वाचक पद कैसे हो सकता है, फिर भी यह अनुश्रुति से प्रणवार्थ भी बतलाया है। आनन्दगिरि ने भाष्य करते हुए इस बात को स्पष्ट भी किया है—

'मुख्यया वृत्तिमेतं प्रत्योमित्येतदक्षरेण वाक्येन ब्रह्मस्वरूपोपनिषदुपनिषत् । अनादिसिद्धेनोङ्कारोपासनो यद्यौगिकार्थं

स्फुरति तदोंकारसामीप्यादेव शास्त्रान्तरेषु [illegible] लक्ष्यते। तेन लक्षणमविरुद्धमिति [illegible] श्रुतिमुदाहरति—ओमित्येतदिति।

मुण्डक में भी

अक्षरं धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं, शरवत्तन्मयो भवेत्॥ इति

इसी तरह अन्य उपनिषदों में भी ओंकारादि द्वारा, अभेद-सामानाधिकरण्य द्वारा व [illegible] इसी को आत्मप्राप्ति का उपाय बतलाया है। जैसे—

एतदालम्बनं [illegible]
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति [illegible]॥
([illegible])

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं [illegible]।
([illegible])

"ओमित्यात्मानं युञ्जीत। ओमिति [illegible]। [illegible]।
ओमितीदं सर्वम्। इत्यादि

ओंकार एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। ([illegible])

ओमित्येवं ध्यायथात्मानम्। ([illegible])
[illegible] में भी—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः परमात्मा पुरुषविशेष ईश्वरः ।

इस सूत्र से ईश्वर का लक्षण बतला कर उसकी उपासना या प्राप्ति के लिये उसका वाचक कहते—

तस्य वाचकः प्रणवः । (यो० १ प० २७)

उस (ईश) के वाचक प्रणवरूप ओंकार ही बतलाया है यहाँ ईश्वर वस्तुवाच्य है और प्रणव शब्द वाचक है अतः वाचक लिया है। निरुक्त अर्थ का वह वाचक ही है। स्मृतियों में भी—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

(गी० अ० १७)

ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम् ॥

(गी० अ० ८)

अक्षरमनिर्देश्यं वै, आदित्यो मनोमयः ।
तत्पितृन् + स्वधा दत्त, तेनाहुतः वर्षादिति ॥

इत्यादि वचनों के द्वारा ब्रह्म का वाचक व लक्षक ओंकार ही बतलाया है। यह ओंकार निरुक्त और अनिरुक्त भेद से दो प्रकार का है, निरुक्त समाप्त है, और अनिरुक्त असमाप्त है। निरुक्त पुनः समाप्त भेद से तीन भेद हैं। इस ब्रह्म के वाचक ओंकार

में तीन मात्राएँ हैं, अकार, उकार, मकार। पाठक [illegible] इन तीन मात्राओं में विभाग कर सकते हैं। जैसा कि छान्दोग्य में लिखा है—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारः, अधिमात्रं पादाः मात्राः, मात्राश्च पादाः, अकार उकारो मकार इति।

ये ही अकार, उकार, मकाररूप तीन मात्रा आत्मा-स्वरूप ओंकार के तीन चरण हैं। इसमें कि आत्मा ओंकार है। जो कि निराकार है, निर्गुण है। साधारण से उसका परिचय नहीं हो सकता; अतः यह अमात्र [illegible] है। अतः कि आत्मा की श्रुति में स्पष्ट है। यही बात माण्डूक्योपनिषद् और गौड़-पादीय कारिका में स्पष्ट की गई है। जैसे—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकारः। (मा० उ०)

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च, द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकारो विदितो येन, स मुनिर्नेतरो जनः॥
(गौ० पा० का०)

इसी चतुर्थ अमात्रा का अनुभव करते हुए कुछ साधकगण लिखते हैं कि—

अनन्तादः स्थला सिद्धिः चाक्षुषाय नमोनमः।

अध्यात्मतत्त्व

इनमें से ओंकारद्वारा प्रतिपादित जो अध्यात्म ब्रह्म है वह भी चतुष्पाद है। जैसा कि माण्डूक्य में लिखा है कि—

अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्'

अर्थात् इसके ओंकार की तरह निरुक्त और अनिरुक्त दो भेद हैं। जैसा कि तैत्तिरीयक श्रुति में लिखा है—

"तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च।" इत्यादि

इसमें जो निरुक्त अंश है उसके भेद से तीन विभाग हो जाता है। जाग्रत्स्थानाभिमानी स्थूल की विश्व संज्ञा है। और स्वप्नस्थानाभिमानी की तैजस संज्ञा है। सुषुप्तस्थानाभिमानी की प्राज्ञ संज्ञा है। ये तीन भेद साकार अर्थात् निरुक्त की तीन मात्रायें हैं, और इस से ये चार पाद निराकार अनिरुक्त अंश हैं, कूटस्थसाक्षी हैं, सर्व प्रपञ्चों से रहित हैं। इन चारों का विवेचन माण्डूक्योपनिषत् तथा गौड़पादीय कारिकाओं में स्पष्ट है। यहां विस्तारभय से अधिक विवेचन नहीं किया जाता है। जानने का अभिप्राय यह है कि इसपूर्वोक्तप्रकार से अध्यात्म (आत्मा) जो कि सर्वदा ब्रह्म कहलाता है उसके विषय में भी [illegible] जानने की इच्छा से जानकारी करता है।

अधिदैवतप्रक्रम

एवं अधिदैवतप्रक्रम लोकि समष्टिप्रक्रम है यह भी उपर्युक्त प्रकार से चतुष्पात् है। यह भी निरुक्त और अनिरुक्त भेद से दो प्रकार का है। निरुक्तप्रक्रम लोकप्रत्यभेद से त्रिधा विभक्त हो जाता है। पृथिव्यभिमानी व समष्टिस्थूलशरीर का अभिमानी समष्टि चेतन विराट् है। अन्तरिक्षाभिमानी व समष्टि सूक्ष्मशरीरके अभिमानी चेतन ही हिरण्यगर्भ संज्ञा है। द्यु लोकाभिमानी व समष्टि अज्ञानरूप कारणशरीर के अभिमानी चैतन्य की ईश्वर संज्ञा है। ये तीन प्रकार के तीन स्वरूप हैं और इन सब में अन्तर्यामी अपरिच्छेद्य शुद्ध चैतन्य साक्षी अभावरूप है।

१—जाग्रदादि-अवस्था-चतुष्टय

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिभेद से तीन अवस्थाएँ हैं। इन तीनों अवस्थाओं का वर्णन उपनिषदों में प्रसिद्ध ही है। जैसे—

स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवति स्वप्नायैव।
स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि।
(बृहदारण्यक)

य एषोऽन्तर्हृदि पुरुष दृश्यते, इत्यादि।
य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति, इत्यादि।

तदाऽऽत्मनात् सुप्तः समग्नः सम्प्रसन्न इत्यादि ।

(छान्दोग्योपनिषत्)

स एष माया परिमोहिताग्या, शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
विषज्वपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितुष्टिमेति ॥
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता, स्वमायया कल्पित जीव लोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीनस्तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते । (विवेक० ८८)

ये तीनों अवस्थाएँ साकार हैं। इनसे परे तुरीयावस्था है, वह निराकार है। जैसा कि मण्डलब्राह्मण में लिखा है कि—

तुरीयं तै धाम धनिभिरदब्धानमसुभिः । इति

२—ईशत्वादिचतुष्टय—

इसी तरह से उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप से भी तीन अवस्थाएँ हैं। जिन का कि वर्णन—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.येनसजातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

इस तैत्तिरीय श्रुति में मिलता है—

जन्माद्यस्य यतः । ब्र० सू० अ० १ सू० २

इस वेदान्त सूत्र में इन्हीं तीन अवस्थाओं का वर्णन है। ये तीन अवस्थाएँ अज्ञानावस्था की हैं। इनसे परे इन तीन अवस्थाओं से रहित शुद्ध चैतन्यरूप जिसपर कि अज्ञान के कारण ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् [illegible] ही निर्गुण सगुणोपास्य है। यह निराकार है।

सर्वेऽत्र सकलं ज्ञानं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यस्मिन् सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥

इत्यादि श्रुतियाँ इसी अवस्था को बतला रही हैं।

३—सांख्यमतालुसार सम्बन्ध

१—सांख्य मत में त्रिगुणात्मिका अनादि प्रकृति को ही प्रधान अव्यक्त अव्याकृतादि शब्दों से शास्त्रों में व्यवहार होता है, जगत् की पैदा करने वाली है। निम्न श्रुतियों से यह ज्ञान स्पष्ट हो जाती है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। इति सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। श्वेत० सू० ६।५

इससे विपरीत पुरुष पुरुषत्वरूप ही सगुण तथा निर्गुण है। यथा

असङ्गो ह्ययं पुरुषः। निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गात्। बृह० सू० ४।६

इत्यादि वचनों से असङ्ग अर्थात् निर्गुण सिद्ध होता है। इस

तरह सांख्य मत में सत्त्वरजस्तमःस्वरूपा प्रकृति ही सारी सृष्टि को पैदा करती है। पुरुष अकर्त्तृत्वादि है, विशुद्धज्ञानी है और फलतः प्रलयादि की तरह निर्लेप है।

अब सत्त्व रज और तम ये तीन गुण ही आकार की तीन मात्रायें हैं तथा इनसे परे जो निर्लेप निराकार तथा गुणातीत पुरुष है वह निर्गुणब्रह्म की चौथी मात्रा है।

२—सांख्यमतानुयायी पचीस तत्त्व मानते हैं। उन पचीस तत्त्वों को चार भेदों में विभक्त करते हैं, प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और अनुभय। मूलप्रकृति प्रकृति है। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ प्रकृतिविकृति हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, एक आत्मतत्त्व तथा मन ये विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है न विकृति है। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

इनमें से तीन प्रकृति, प्रकृतिविकृति तथा विकृति ये तीन अहम्बुद्धि आकार की तीन मात्रायें हैं तथा पुरुष प्रकृति रहित है। यह ब्रह्म निर्गुण चतुर्थमात्रात्मक है।

शरीरभेद से समन्वय

स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण भेद से शरीर तीन प्रकार का है। पाञ्चभौतिक अथवा पाञ्चभौतिक शरीर जो कि माता, पिता के

संयोग से पैदा होता है वह स्थूल शरीर है और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि ये सत्रह लिङ्ग शरीर है। जैसा कि पञ्चदशी में भी लिखा है—

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते॥

(पं० द०)

अविद्याकामादि कारण शरीर है जो कि संसार के मूल कारण (बीज) माने जाते हैं। तीनों का निरूपण पञ्चदशी में किया है, जैसे—

स्थूलं सप्तदशं कारणञ्च शरीरं त्रिविधं स्मृतम्। इति

ये तीन शरीर ही आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं। इन से रहित आत्मा चतुर्थ है। जैसा कि ज्ञानबिन्दूपनिषत् लिखता है—

यथवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्मं मृत्युना तदस्यामृतस्या-शरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्मो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां, न वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। इत्यादि।

यही शरीर आत्मा चतुर्थ निर्गुण माना है।

वैयाकरण मतानुसार समन्वय

पाणिनिदर्शन

१—वैयाकरण-सिद्धान्त के अनुसार संसार के सारे पदार्थ तीन लिङ्गों में विभक्त हैं। वे तीन लिङ्ग पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग हैं। अव्यय इन तीनों लिङ्गों से अतीत है। वह ब्रह्मरूप है। इसी अव्यय का वर्णन श्रुतियों में निम्न प्रकार से किया है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ इति

इस में तीन लिङ्ग, सात कारक की तीन मात्राएँ हैं तथा अव्यय-रूप आठ निर्गुण चतुर्थ मात्रा है।

२—वैयाकरण शब्द के चार भेद मानते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

श्रोत्र से स्पष्ट सुनाई देने वाली वाक् वैखरी है। पदपदार्थ के बिना ही आन्तरिकज्ञान के द्वारा जो व्यवहार का कारण पड़ती है, वह हृदयदेशस्थ वाक् मध्यमा कहलाती है। लोकव्यवहार से अतीत केवल योगियों द्वारा समाधि से आयमान जो वाक्

है यह परावाणी [illegible] है। तीनों वाणियां मनितव्यह ज्ञान का विषय होती हैं। इन तीनों के परे वेदितव्यातीतवाणि जो वाणी है, वह "परा" कहलाती है, यही ब्रह्मवादियों का इष्टब्रह्म है। इन वाणी का [illegible] होता है। इसका निरूपण करते हुए हरिकारिका में लिखा है कि—

सहस्रधा भिन्नपदाश्च, पदयन्त्याश्चतुर्विधम्।
अवेक्षन्तीयं वेदाख्या वाचः परं पदम्॥

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी।
तस्याः कूटस्थरूपायाधिकारो निवर्तते॥

विवक्षा शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
व्यक्तार्था च पदन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

इसी का निरूपण करती हुई श्रुति लिखती है कि—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

इसमें [illegible] पश्यन्ती ये तीन वाणियां साकार ये तीन वाणी हैं, तथा चौथी परा वाणी निराकार निर्गुण चौथी मात्रा है जो कि अमात्र कहलाती है।

गतिभेद में समन्वय

गति तीन प्रकार की होती है। देवयान (देवगति), पितृयाण (पितृगति), तथा अधोगति। जो विधानपूर्वक कर्म करते हैं, अथवा सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे देवयान मार्ग से जाते हैं। जैसा कि छान्दोग्य में लिखा है—

तप इत्यर्धं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति। इत्यादि।

और जो केवल अग्निहोत्रादि तथा इष्ट आपूर्त और दत्त करते हैं वे पितृयाण मार्ग से जाते हैं, यह मार्ग धूममान मार्ग के नाम से उपनिषदों में प्रसिद्ध है। और जो शास्त्रनिषिद्ध काम करते हैं उनकी अधोगति होती है, जैसे कृमिकीटादि। जैसा कि श्रुति कहती है—

नायमस्ति त्रिभिर्वेल्येनल्पतीर्थं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते।

इस तरह से तीन गतियां संसारियों की होती हैं और यह तीनों से अतीत चौथी गति है जो कि ब्रह्मज्ञानियों की होती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते।
(छान्दोग्योपनिषत्)

यत्राय पुरुषः म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवलीयन्ते इति।
(बृहदारण्यक)

आदि की तीन गतियाँ साकार की होने से साकार की तीन मात्राएँ हैं और अन्त की अगति निराकार निर्गुण चौथी मात्रा है।

लोकभेद से समन्वय

देवलोक, पितृलोक, मनुष्यलोक, और आत्मलोक ये चार लोक हैं। आदि के तीन लोकों का निरूपण बृहदारण्यक में किया गया है। जैसे—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति, सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको, विद्यया देवलोको देवलोको वै मनुष्याणां श्रेष्ठः। इति।

ये तीनों विनाशी लोक हैं, इन तीनों लोकों से अतीत चतुर्थ आत्मलोक है। जिस का कि निरूपण उपनिषदों में तत्तत्स्थलों में किया गया है, यथा—

आत्मानमेव लोकमुपासीत। (बृहदारण्यक उपनिषद्)
किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा लोकः।
(बृहदारण्यक उपनिषद्)

आदि के तीन लोक अविद्याविषयक होने से साकार हैं, जैसे साकार की तीन मात्राएँ हैं तथा अन्त का आत्मलोक निराकार एकरस होने से निराकार है चतुर्थ मात्रा है।

लयभेद से समन्वय

नित्य, प्राकृतिक, नैमित्तिक और आत्यन्तिक भेद से लय चार प्रकार का है। सुषुप्ति को नित्यप्रलय कहते हैं। मन सहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सुषुप्ति काल में प्राण में लीन हो जाती हैं। जैसा कि श्रुति बतला रही है—

यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्माद् प्रजा आहरहर्ब्रह्मलोकं न विदन्ति। इति।

(छान्दोग्योपनिषद्)

कार्यब्रह्म का नाश होने से तत्प्रयुक्त सकल कार्यों के नाश को प्राकृत प्रलय कहते हैं। इस लय में ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती सकल जंगम और स्थावर सृष्टी का प्रकृति में लय होता है। अतः यह प्राकृतलय कहलाता है।

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते, ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त, कल्पन्ते प्रलयाय हि॥
एष प्राकृतिको राजन्! प्रलयो यत्र लीयते॥

हजार चतुर्युग का काल ब्रह्मा का एक दिन है और उतना ही काल उस की रात्रि है। कार्यब्रह्म का दिन समाप्त होने पर

जो वैकल्पिक का प्रलय होता है वह नैमित्तिक प्रलय होता है। जैसा कि—

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति, ...

इत्यादि पुराण वचन से स्पष्ट है।

और ज्ञानसाक्षात्कार होने से एकान्ततः संसारकारण बन्धन से सदा के लिये जो मुक्ति होती है वह आत्यन्तिकप्रलय है। इसी का नाम मोक्ष है। और प्रलयों में बीजरूप (प्रकृतिरूप) से संसार मौजूद रहता है वहां सर्वथा नाश हो जाता है, अतः वह आत्यन्तिक प्रलय है। इस व्यवस्था का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि—

सर्वं एकीभवन्ति, तत्र त्वस्य सर्वात्मानाभूत्वं केन कं पश्येत्।
इति।

इन में आदि के तीन लयों में बीजरूप शेष रहता है अतः सबीज है। और आत्यन्तिक लय निःशेष होने से निर्बीज है।

योगदर्शन

१— योगदर्शन में समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य भेद से चार पाद माने गये हैं। इनमें आदि के तीन साधन हैं और चौथा

पौरुषः साध्य है। साधन आत्मा की तीन मात्रायें हैं और साध्य कैवल्य चिद्रूप होने से निर्गुण निराकार चतुर्थमात्रारूप है।

२—कर्म चार प्रकार के हैं, कृष्ण, शुक्ल, मिश्र (कृष्ण शुक्ल) व अशुक्लाकृष्ण। दान यज्ञादि शुक्लकर्म हैं जोकि शुभफल के दाता हैं। ब्रह्महत्या गोवध आदि कृष्णकर्म हैं जिनसे अशुभ फल नरक गमन आदि मिलता है। शुक्ल और कृष्ण दोनों कर्मों का जहाँ मिश्रण है वह मिश्र अर्थात् शुक्लकृष्ण कर्म है। यह मिश्रफल को पैदा करता है। अन्तिम चौथा अशुक्लाकृष्ण कर्म है जिसमें कि योगिजन फलेच्छा से रहित होकर करते हैं। इससे किसी भी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती। इसका निरूपण—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (यो० द० के० पा० ७)

इस योगसूत्र में मिलता है। इन में आदि के तीन कर्म साकार हैं और अन्त का कर्म अफलस्वरूप होने से निर्गुण रूप है।

३—योग के चार भेद हैं मन्त्र, हठ, लय, व राज। इनमें आदि के तीन साधन हैं और अन्त का चौथा राजयोग साध्य है।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये। (ध्या० उ०)
राजत्वान्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः। इति।

इत्यादि वचन इसी तत्व को प्रमाणित कर रहे हैं। अतः इनके द्वारा भी समन्वय बन सकता है।

४—योगदर्शन में प्राणायाम के चार भेद स्वीकार किये हैं—पूरक, रेचक, कुम्भक और केवलकुम्भक। बाह्यवृत्ति श्वास को रेचक, अन्तर्वृत्ति श्वास को पूरक तथा अन्दर ठहराये हुए श्वास को कुम्भक कहते हैं। इनका विस्तृत वर्णन योगदर्शन में स्पष्ट मिलता है। इन तीनों प्रकार के प्राणायामों से उत्कृष्ट चतुर्थ केवल कुम्भक प्राणायाम है जिसका निरूपण योगदर्शन में—

'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

(साध० पाद० ५१)

इस सूत्र के द्वारा किया गया है। इनको लेकर भी साक्षी का समन्वय हो सकता है।

जैमिनि-दर्शन

जैमिनिदर्शन में प्रधानतया विधि के चार भेद माने हैं। उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि और अधिकारविधि। कर्म के स्वरूप का बोधन कराने वाली विधि उत्पत्तिविधि, अङ्ग और प्रधान के सम्बन्ध को बतलाने वाली विनियोगविधि अङ्गसहित प्रधान के अनुष्ठान का बोधन करने वाली प्रयोगविधि, एवं फल का सम्बन्ध बोधन करने वाली विधि अधिकारविधि कहलाती है। इनमें आदि की तीन विधियाँ साधनरूप व अन्त की साध्यरूप है। आदि की तीन साक्षात् की तीन साक्षात् हैं और अधिकार विधि अपूर्वजन्य स्वर्गादि की प्रतिबन्धक होने से निराकार स्वीकार्य है। यद्यपि अपूर्व व स्वर्गादि वस्तुतः निराकार नहीं हैं किन्तु अपेक्षाकृत साक्षात्व को लेकर भेद होने से समन्वय हो सकता है।

वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, व अभाव भेद से सात पदार्थ मानते हैं। इन में आदि के छः भावरूप हैं और अन्त का अभावात्मक है। भाव पदार्थों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथापि अवयव जाति से विशिष्ट होता हुआ आधार पदार्थ, जातिविशिष्ट होता हुआ आधेय पदार्थ, एवं जाति रहित होता हुआ आधेय पदार्थ। द्रव्य—जातिविशिष्ट होता हुआ आधार पदार्थ है। गुणकर्म—जातिविशिष्ट होते हुए आधेयपदार्थ हैं। अवयवी द्रव्य भी ऐसा ही है। सामान्य, विशेष और समवाय जातिरहित आधेयपदार्थ हैं और अन्तिम पदार्थ अभाव अभावरूप है। वैशेषिक मोक्ष को दुःखाभावरूप मानते हैं। अतः आदि के तीन संसाररूप होने से आत्मान्तर्गत हैं। एवं अभाव मोक्षरूप होने से निराधार व निर्गुणात्मक है।

न्यायदर्शन

न्यायदर्शन वाले चार प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन में आदि के तीन प्रमाणों से साकार विषयों का ही ज्ञान होता है निराकार ब्रह्म का नहीं। यद्यपि अनुमान द्वारा ब्रह्म का ज्ञान मानते हैं परन्तु वह सामान्यरूप से ही होता है। विशेषरूप नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वधर्मरहित है। अतः इन्द्रियादि से और लिङ्गादि के न होने से अनुमानादिप्रमाणों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। [illegible] है जो लक्षणावृत्ति द्वारा उसका स्वरूपतः बोध करा सकता है।

अतः 'सादृश्यात्सादृश्यम्' इस न्याय के अनुसार तीन प्रमाण साकार के प्रधानतया बोधक होने से आकार की तीन मात्राएँ हैं। और शब्द निराकार व निर्गुण का प्रतिपादक होने से निराकार निर्गुण मात्रा है।

आयुर्वेद

आयुर्वेदशास्त्र के चार व्यूह माने गये हैं रोग, रोगनिदान, भैषज्य और आरोग्य। आदि के तीन साधनरूप हैं और अन्त का आरोग्य साध्य है। आदि के तीन आकार की तीन मात्राएँ हैं एवं आरोग्य शुद्धस्वरूप होने से निराकार प्लुत मात्रा है।

साहित्य

काव्यशास्त्र में काव्य के चार भेद माने गये हैं उत्तम, मध्यम, उत्तम व उत्तमोत्तम। शब्दचमत्कारप्रधान काव्य अधम, स्पष्टतया प्रतीयमान व्यंग्यार्थ चमत्कार से रहित और अर्थचमत्कार से युक्त मध्यम, व्यङ्ग्यार्थशब्द चमत्कार की अपेक्षा होने पर भी वाच्यार्थ की प्रधानता वाला उत्तम तथा स्पष्ट प्रतीयमान व्यंग्यार्थ की प्रधानता रखने वाला उत्तमोत्तम कहलाता है। इनका विशद निरूपण रसगंगाधर में मिलता है। इनमें उत्तमोत्तम काव्य ध्वनि कहलाता है। रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि इसी ध्वनि काव्य के भेद हैं और रस 'रसो वै सः' इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार ब्रह्मरूप है। अतः आदि के तीन काव्य साकार की तीन मात्राएँ तथा अन्त्य ध्वनिरूप काव्य अव्यक्त प्लुत मात्रा है।

इस तरह और भी कितने ही आकार हैं जिनके द्वारा इस मात्रा का लक्षण किया जासकता है, जैसे—

आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।
शक्तिवृत्ति—शक्ति, जघन्या, मानसी और व्यंजना।
ऋत्विग्भेद—होता, अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा।
वेदभेद—ऋक्, यजु, साम व अथर्व।
योगिभेद—दशमकल्पिक, नवमभूमिक, महाज्योति, अतिक्रान्त-भावनीय।
भक्त—ज्ञानी, अर्थार्थी, जिज्ञासु व ज्ञानी।
योगायोग्यत्व—अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, समत्वयोग।

अन्त में भागवत में निर्दिष्ट कुछ प्रकारों का उल्लेख कर इसकी समाप्ति की जाती है।

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः॥
यदृच्छया निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥
पथ्यं तु सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम्॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥
सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥

उपसंहार

इस प्रकार दादूजी की वाणी में दार्शनिक सिद्धान्त मिलते हैं, इसका कुछ उदाहरण देकर दिग्दर्शन कराया। किन्तु वस्तुतः यह दिग्दर्शन मात्र ही है, इनके अतिरिक्त भी अत्यधिक साखियें व पद आपको ऐसे मिलेंगे, जिनमें स्पष्टतया दार्शनिक सिद्धान्तों की झलक आपको दिखाई देगी। जैसे -

दहदिस फिरै सु मन है, आवै जाय सु पवन।
राखणहारा प्राण है, देखणहारा ज्ञान॥

इस साखी में मन, पवन (वायु), प्राण और ज्ञान का भेद कितने संक्षिप्त व सरल शब्दों में कितना स्पष्ट कराया है। मुख्य प्राण और वायु का भेद ब्रह्मसूत्र में भी 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' इस सूत्र के द्वारा शोधन किया है।

इस तरह अन्य स्थल भी बहुत मिलते हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ साखियों व पदों को उद्धृत कर इस निबन्ध को समाप्त किया जाता है।

पूरण ब्रह्म विचारिये सब सकल आत्मा एक।
काया के गुण देखिये तो नाना वरण अनेक॥
पूरण ब्रह्म विचारि ले दुती भाव कर दूर।
सब घट साहिब देखिये तो राम रह्या भरपूर॥

कर्मों के वश जीव है कर्मरहित सो ब्रह्म।
जहँ आतम तहँ परमातमा दादू जानी भ्रम॥
आतम माहिं उपजै दादू पंकुल ज्ञान।
कुलह जाय उलंघि करि जहाँ निरंजन थान॥
दादू मन्दिर काच का सकल सुनसा जाइ।
दादू एक अनेक ह्वै आप आपको खाइ।
दादू निरन्तर पीव पाइया तहँ पंखी उनमन जाय।
सबों बण्डल मेटिया अहँ रहा समाइ।
दादू जल पाषाण ज्यूं ऐसे सब संसार।
दादू पाणी लोण ज्यों कोई बिरला पूजनहार॥
तन मन चित्त यों कीजिये, ज्यों पाणी ने लूण।
जीव ब्रह्म एकै भया तब दूजा कहिये कौण॥

ऐसा राम हमारे आवै, बारम्बार कोई अलख न पावै।
हलकम मारी कथा न जाय, बोल साथ नहिं रहा समाय॥
कीमत लेखा नहीं प्रमाण, सब पचिहारे साधु सुजान॥
इत्यादि।

मन रे तू देखै सो नाहीं, ह्वै सो जगत अगोचर माहीं।
जिस अँधियारी कछू न सूझै, सोई सत्य दिखावा।
ऐसे अंध जगत नहिं जानै, जीव जेवड़ी खावा।
इत्यादि

भाई रे बाजीगर नट खेला, ऐसे आपै रहै अकेला।

यहु बाजी खेल पसारा, सब मोहैं कौनिवहारा।
यहु बाजी खेल दिखावा, बाजीगर किनहूं न पावा।
कुछ नांहीं सो पैसा, है सो किनहूं न देखा।
इत्यादि।

मधि नैन निरखौं सदा सो सहज स्वरूप।
देखत ही मन मोहिया है सो तत्व अनूप॥
त्रिवेणी तट पाइया मूरति अविनाशी। इत्यादि

अन्त में मैं यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूं कि दादूजी को धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञान अपरोक्षानुभव द्वारा, श्रुतानुभव द्वारा या अनुभव द्वारा किसी भी प्रकार से क्यों न हुआ हो, किन्तु उन्होंने उन सिद्धान्तों को बहुत ही सरल व सुबोध भाषा में जनता के सामने रक्खा जैसा कि इस निबन्ध को आद्यन्त पढ़ने से आपको दिग्दर्शन हो जायगा। साथ ही यह भी निवेदन है कि—यह अनुसन्धानकर्ता की मौलिकता के आधार पर लिखा हुआ एक निबन्ध मात्र है। इसमें बानी और दोहों का समन्वय बतलाने के लिये प्रत्येक स्थल में श्रुति, स्मृति, सूत्र आदि का उद्धरण देना आवश्यक हो गया है, किन्तु उनका अनुवाद व अर्थ हिन्दी भाषा में नहीं किया गया, क्योंकि ऐसा करने से निबन्ध के अत्यधिक विस्तृत हो जाने का भय था। दर्शनशास्त्र की अनभिज्ञता के कारण इस प्रयास में बहुत सी त्रुटियां रह सकती हैं जिनको विद्वान पाठक मेरी अल्पज्ञता व अनभिज्ञता का ख्याल कर सहन करेंगे। इतिशम्॥